जिनभाषित

वीर निर्वाण सं. 2535

श्री दिगम्बर जैन मंदिर नारायना (जिला-दूदू , राजस्थान)
में विराजमान, खुदाई में प्राप्त १००० वर्ष प्राचीन
५ फुट उत्तुंग जिनप्रतिमा

श्रावण, वि.सं. 2066

अगस्त, 2009

मूल्य 15/-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

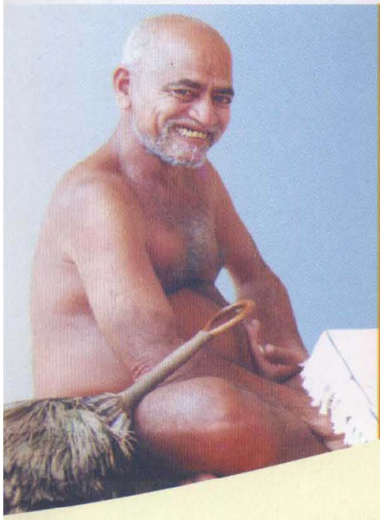

करुणा हेय नहीं

आचार्य श्री विद्यासागर जी

करुणा हेय नहीं,
करुणा की अपनी उपादेयता है
अपनी सीमा...
फिर भी,
करुणा की सही स्थिति समझना है।
करुणा करनेवाला
अहं का पोषक भले ही न बने,
परन्तु
स्वयं को गुरु-शिष्य
अवश्य समझता है
और
जिस पर करुणा की जा रही है वह
स्वयं को शिशु-शिष्य
अवश्य समझता है।
दोनों का मन द्रवीभूत होता है
शिष्य शरण लेकर
गुरु शरण देकर
कुछ अपूर्व अनुभव करते हैं।
पर इसे
सही सुख नहीं कह सकते हम।
दुख मिटने का
और
सुख-मिलने का द्वार खुला अवश्य,
फिर भी ये दोनों
दुःख को भूल जाते हैं इस घड़ी में!
करुणा करनेवाला
अधोगामी तो नहीं होता,
किन्तु
अधोमुखी यानी-
बहिर्मुखी अवश्य होता है।
और
जिस पर करुणा की जा रही है, वह
अधोमुखी तो नहीं,
ऊर्ध्वमुखी अवश्य होता है।
तथापि,
ऊर्ध्वगामी होने का कोई नियम नहीं है।

मूकमाटी (पृष्ठ १५४-१५५) से साभार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रजि. नं. UPHIN/2006/16750

अगस्त 2009 मासिक वर्ष 8, अङ्क 8

जिनभाषित

सम्पादक
प्रो. रतनचन्द्र जैन

◆

कार्यालय
ए/2, मानसरोवर, शाहपुरा
भोपाल- 462 039 (म.प्र.)
फोन नं. 0755-2424666

◆

सहयोगी सम्पादक
पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया, मदनगंज किशनगढ़
पं. रतनलाल बैनाड़ा, आगरा
डॉ. शीतलचन्द्र जैन, जयपुर
डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत
प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ
डॉ. सुरेन्द्र जैन 'भारती', बुरहानपुर

◆

शिरोमणि संरक्षक
श्री रतनलाल कँवरलाल पाटनी
(मे. आर.के.मार्बल)
किशनगढ़ (राज.)
श्री गणेश कुमार राणा, जयपुर

◆

प्रकाशक
सर्वोदय जैन विद्यापीठ
1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
आगरा-282 002 (उ.प्र.)
फोन : 0562-2851428, 2852278

◆

सदस्यता शुल्क

शिरोमणि संरक्षक	5,00,000 रु.
परम संरक्षक	51,000 रु.
संरक्षक	5,000 रु.
आजीवन	1100 रु.
वार्षिक	150 रु.
एक प्रति	15 रु.

सदस्यता शुल्क प्रकाशक को भेजें।

अन्तस्तत्त्व

पृष्ठ

◆ **काव्य :** करुणा हेय नहीं
: आचार्य श्री विद्यासागर जी — आ.पृ. 2

◆ **सम्पादकीय :** चेतना-जागरण का पर्व : पर्युषण — 2

◆ **प्रवचन :** कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र का स्वरूप
: आचार्य श्री विद्यासागर जी — 6

◆ **लेख**

- वीरशासन जयन्ती : एक अद्वितीय महापर्व
  : मुनि श्री प्रणम्यसागर जी — 9
- जैनकर्म सिद्धान्त : स्व० पं० मिलापचन्द्र जी कटारिया — 12
- निमित्त और उपादान : पं० नाथूराम जी डोंगरीय — 15
- जिनभाषित (जनवरी 2009) के सम्पादकीय का समीक्षात्मक अध्ययन : पं० सनतकुमार विनोदकुमार जैन — 18
- सम्पादकीय टिप्पणी : प्रो० रतनचन्द्र जैन — 21
- आज का वास्तुशास्त्र : पुनर्चिन्तन की आवश्यकता
  : प्राचार्य पं० नरेन्द्रप्रकाश जी जैन — 26

◆ **जिज्ञासा-समाधान** : पं. रतनलाल बैनाड़ा — 28

◆ **ग्रन्थ समीक्षा :** मुनि श्री क्षमासागर जी का ग्रन्थ 'कर्म कैसे करें' : सुरेश जैन सरल — 31

◆ **काव्य :** स्वयम्भूस्तोत्र का हिन्दीपद्यानुवाद
: पं० निहालचन्द्र जैन — 5

◆ **कविता :** स्खलन : सरोजकुमार — आ.पृ. 3

◆ **समाचार** — 11, 14, 25

लेखक के विचारों से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
'जिनभाषित' से सम्बन्धित समस्त विवादों के लिये न्यायक्षेत्र भोपाल ही मान्य होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

चेतना-जागरण का पर्व : पर्युषण

भारतीय संस्कृति में पर्वों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि वे व्यक्ति को मर्यादा में रहकर मर्यादित आचरण करना सिखाते हैं। यह मर्यादा स्वतंत्रता देती है, किन्तु स्वच्छन्दता पर रोक लगाती है। यह मात्र स्वयं जीने का दर्शन नहीं, अपितु 'जियो और जीने दो' का दर्शन है। यह दूसरों को नियंत्रित करने के बजाय, स्वयं को नियन्त्रित करने का माध्यम है, जिसके सहारे हम वह सब पा सकते हैं, जिससे सुख मिलता है, शान्ति मिलती है, यश मिलता है। वास्तव में मानवीय जीवन को गरिमा इन पर्वों से ही मिलती है।

जैनधर्मानुयायियों द्वारा प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ल पंचमी से भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी तक मनाया जाने वाला पर्युषण पर्व ऐसा ही पर्व है, जिसे पर्वों का राजा कहा जाता है। यह हमें आत्मानुशासन सिखाता है। यह क्रोध के स्थान पर निर्वैरजन्य समता (उत्तमक्षमा धर्म), अहंकार के विरुद्ध विनम्रता (उत्तम मार्दव धर्म), कुटिलता के विरुद्ध सरलता (उत्तम आर्जव धर्म), लोभजन्य अशुचिता के स्थान पर शुचिता (उत्तम शौच धर्म), असद् व्यवहार के विरुद्ध सत्य (उत्तम सत्य धर्म), स्वेच्छाचारिणी दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध संयमित जीवन (उत्तम संयम धर्म), लक्ष्यात्मक चेतना जगाने के लिए तपस्या (उत्तम तप धर्म), स्व और पर की भलाई या उपकार के लिए धनादिक का दान तथा राग-द्वेष-विमोचन रूप त्याग (उत्तम त्याग धर्म), 'सब सुखी हों, कोई दु:खी न रहे' की भावनावश परिग्रह के प्रति आसक्ति का विसर्जन (उत्तम आकिञ्चन्य धर्म) एवं आत्मनियंत्रण रूप (उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म) होने से प्राणी मात्र के लिए कल्याणकारी है।

आज सब कुछ सम्पन्नता है, किन्तु अनुशासन, संस्कृति, नैतिकता और प्रकृति प्रदत्त सुख की विपन्नता है। हम समर्पण में भी अंहकार का विसर्जन नहीं कर पा रहे हैं, जबकि यह स्पष्ट है कि समर्पण लकड़ी जैसा है, जिसे कोई छुपा नहीं सकता और अहंकार पत्थर जैसा है, जिसे कोई तैरा नहीं सकता, किन्तु तिरा सकने वाली लकड़ी की नाव में बैठने के स्थान पर, जो पत्थर की नाव में सवारी करना चाहते हैं उनका डूबना तय है। हमारा अहंकार हमें अनुशासन का सम्मान नहीं करने देता, वह तो नियम तोड़ने को स्वतंत्रता मानता है। उसका सोच है कि जो कुछ है मेरे लिए है, अब मैं इसे रखूँ या इसे तोड़ूँ। यह संस्कारहीनता हमें उच्चता के शिखरों का स्पर्श ही नहीं करने देती। मनुष्य होने के नाते हमारा लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए। सम्राट अमोघ वर्ष ने 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' में लिखा है-

किं दुर्लभं? नृजन्म, प्राप्येदं भवति किं च कर्त्तव्यम्?
आत्महितमहितसंगत्यागो रागश्च गुरुवचने॥

अर्थात् दुर्लभ क्या है? मनुष्यजन्म। यदि प्राप्त होता है तो क्या करना चाहिए? आत्महित करना चाहिए, अहितसंग का त्याग करना चाहिए और गुरुवचनों में राग करना चाहिए।

आज का मनुष्य अपने होने की दुर्लभता को भूल गया है। उसने धन की निकटता में दिलों की दूरियाँ बढ़ा ली हैं। आज वह दूरदर्शन भले ही देखता हो, किन्तु उसमें दूरदृष्टि का अभाव दिखाई दे रहा है। भौतिक सुख-सुविधाओं के लालच में वह प्राकृतिक संसाधनों को कुचल रहा है। प्रकृति में विकृति भले ही न आयी हो, किन्तु हमारे सोच में विकृति आयी है। हम अपने मूल्यों का संरक्षण नहीं कर पा रहे हैं, यहाँ तक कि अपना मूल्य भी खोते जा रहे हैं, तब प्रगति की सराहना कैसे करें? किसी ने ठीक ही कहा है-

ये अँधेरे भले थे कि कदम राह पर थे,
ये रोशनी लाई है मंजिल से बहुत दूर हमें।

नैतिकता के सच्चे प्रेरक हमारे पर्व होते हैं। वे अध्यात्म से जोड़ते हैं। जीने की कला सिखाते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। तत्त्वचिन्तन एवं आत्माराधना के अवसर प्रदान करते हैं। इन दिनों व्यक्ति संसार के यथार्थ स्वरूप की जानकारी, संसार से बचने के उपाय एवं उत्तमक्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच्-सत्य-संयम-तप-त्याग-आकिञ्चन्य एवं ब्रह्मचर्य रूप दशधर्मों का यथार्थ चिन्तन-मनन कर उन्हें अंगीकार करने का प्रयत्न करता है। आत्मा-परमात्मा की निकटता के लिए इन दिनों उपवास किये जाते हैं, स्वाध्याय होता है और संयमयुक्त जीवन को जीवन का अंग बनाया जाता है। पर्युषण पर्व से जुड़ना आत्महित के लिए आत्मगौरव की बात है। जिन्दगी विचारों की जंग है। यदि प्रशस्त विचार मिलें, सार्थक चिन्तन हो, तो जीवन में आस्था के रंग भरने लगते हैं। इसके लिए धर्म की शरण में जानेवाला व्यक्ति स्वयं को पतित से पावन बना लेता है। हम मानव हैं और विकास चाहते हैं। किन्तु इसके लिए आत्मबल के साथ-साथ कठोर परिश्रम, सदाशयता, सदाचारपूर्ण जीवन जीते हुए विलासिता से दूर रहना आवश्यक है। मनुष्य जिन विलासिता की वस्तुओं का संगृहीत करके बड़ा दिखना चाहता है, वह कालान्तर में स्वयं वस्तु बनकर रह जाता है और वस्तु स्वभाव-अपनी आत्मा से दूर हो जाता है। जो बाधक तत्त्वों को साधक मानता है, वह बन्धनविमुक्त कैसे हो सकता है? पर्युषणपर्व सच्ची सवतंत्रता की ओर ले जाता है, क्योंकि वह धर्ममय जीवन का संदेश देता है। नीतिकार कहते हैं-

सुपुरुष तीन पदारथ साधहिं, धर्म विशेष ज्ञान आराधहिं।
धर्म प्रधान कहैं सब कोय, अर्थ काम धर्महिं तैं होय॥

अर्थात् सज्जन पुरुष तीन पदार्थों को साधते हैं- धर्म, अर्थ और काम। ज्ञान से धर्म की विशेष आराधना करते हैं। सभी लोग धर्म को प्रधान कहते है, क्योंकि धर्म से ही अर्थ और काम की सिद्धि होती है।

पर्युषण पर्व जीवन में आत्मशोधन का निमित्त उपस्थित करता है। वह चाहता है कि मानव अपने हित पर विचार करे, अपने स्वभाव की ओर मुड़े। क्षमा, मार्दव, आर्जव जैसे स्वाभाविक गुणों की क्या स्थिति है, यह विचार मन में लाकर अभय की साधना करनेवाला मनुष्य 'जियो और जीने दो' की भावना को जब हृदयंगम करता है, तब पर्वाराधना पूर्ण होती है। मनुष्य को कौन से कार्य करना चाहिए, ताकि मनुष्यभव के फल की प्राप्ति हो, इस विषय में कहा गया है-

का परमेश्वर की अरचा विधि, सो गुरु की उपसर्जन कीजे।
दीन विलोक दया धरिये चित, प्रासुक दान सुपत्तहिं दीजे॥
गाहक हो गुन को गहिये, रुचिसों जिनआगम को रस पीजे।
ये करनी करिये गृह में बस, यों जग में नरभौ फल लीजे॥

अर्थात् परमेश्वर की आराधना-विधि क्या है? यह गुरु की शरण में जाकर ज्ञात करना चाहिए। दीन-दु:खियों को देखकर चित्त में दया धारण करना चाहिए। सुपात्रों के लिए न्यायोपार्जित शुद्ध दान देना चाहिए। गुणों का ग्राहक बनकर गुणों को ग्रहण करना चाहिए। रुचिपूर्वक जिनागम के रस का पान करना चाहिए। ये कार्य करते हुए गृह में निवास कीजिए। इस प्रकार मनुष्य भव (पर्याय) का फल संसार में प्राप्त करना चाहिए।

पर्युषणपर्व हमें पशुता के धरातल से उठाकर मनुष्यता के शिखर पर बैठाने का सशक्त माध्यम है। इसके संसर्ग में आकर अनास्था आस्था में बदल जाती है, मूल्यों की पहचान होती है और जीवन मूल्यवान् बन जाता है। हम मूर्तिपूजक समाज के अंग हैं, अत: यह न भूलें कि हमें मूर्ति के माध्यम से मूर्तिमान् को प्राप्त करना है। जीवन में हम 'निज पर शासन, फिर अनुशासन' की नीति पर चलें, क्योंकि विकास की यात्रा स्वयं के बिना अधूरी ही रहती है। आस्था से अनुशासन बनता है, मर्यादा स्थापित होती है। हमें विश्वास के योग्य बनना है, विश्वास को जीतना है। हम समाज में सगा तो बना सकते हैं, किन्तु दगा नहीं दे सकते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्वराज पर्युषण का महत्त्व तभी है, जब हम आत्मिक निकटता स्थापित करें, ताकि हम से ऐसा कुछ न हो जो हमारी आत्मा को स्वीकार्य न हो, आत्महितकारी न हो। हमारा प्रयत्न एवं पुरुषार्थ आत्महित के लिए है, आत्मानुशासन के लिए है। यही पर्युषण का लक्ष्य है और हमारा इष्ट भी।

पर्वराज पर्युषण का आगमन रेगिस्तानी पथ पर पानी की तलाश में चूर पथिक के लिए पानी मिल जाने के समान है। निर्धन को धन, युवा को रोजगार, बालक को माँ, भूखे को भोजन, प्यासे को पानी और रोगी को दवा मिलने पर जो प्रसन्नता होती है, वही प्रसन्नता का भाव भाद्रपद मास आते ही एक जैन साधक के मन में आ जाता है। नयी उमंग, नये विचार मन-मस्तिष्क को ऊर्जस्वित बनाने लगते हैं। अब शरीर साधन बन जायेगा आत्मा की साधना के लिए। बाहरी दुनिया की भौतिक चकाचौंध से परे अन्तर्यात्रा का यह पर्व=सुअवसर प्राप्त करना, आत्मा से जुड़ना घर वापिसी की तरह होता है। 'निदा फाजली' ने लिखा है-

नई नई आँखें हो तो हर मंजर अच्छा लगता है।
कुछ दिन शहर में घूमे लेकिन अब घर अच्छा लगता है॥

'हम तो कबहुँ न निज घर आये' के बोल गुनगुनाता साधक अपने आत्महितार्थ संयम, व्रत, एकाशन, उपवास, पूजा-अर्चना, रसत्याग, सामायिक, जप, तप, ध्यान, स्वाध्याय आदि के माध्यम से एक नये वातावरण का सृजन कर उसमें पैठता है। कषायें शान्त हो जाती हैं, मनोमालिन्य घुलने लगता है, नेह के बादलों की वर्षा होने लगती है, मन्दिरों, प्रवचनसभाओं में बढ़ी भीड़ समाज के वृहदाकार एवं नवजागरण का संदेश देती है। चारों और एक ही स्वर 'अभी हमारे पर्व/व्रत चल रहे हैं' कितना अच्छा लगता है यह सुनकर, देखकर?

धर्म वैयक्तिक सुख का महत्त्वपूर्ण कारक तो है ही, वह समष्टि के सुख का पोषक भी है। यदि हम अपनी चेतना को महनीय बनाना चाहते हैं, तो चेतना के कारक धर्म और अध्यात्म से जुड़ना होगा। संसार, शरीर, और विषय भोगों की चिन्ता और उसी में निरन्तर डूबते जाने की प्रवृत्ति से हम क्या थे और क्या हो गये? अपने ही आत्मारूपी घर को भूल बैठे हैं, परमात्मा की तो बात ही कौन करे? लक्ष्य खोज रहे हैं, किन्तु मार्ग विपरीत पकड़ रखा है। किसी कवि ने ठीक ही लिखा है-

घर को खोजें रात दिन, घर से निकले पाँव।
वो रस्ता ही खो गया, जिस रस्ते था गाँव॥

पर्युषण पर्व हमारी चेतना को जगाने के लिए आते हैं। यह बताने के लिए कि तुम स्वयं को पहचानो, स्व को जानो। स्व को जाने बिना पर से नाता नहीं टूट सकता। हमारी साधना स्व की साधना बने तो पर छूटते देर नहीं लगेगी। 'धर्म के दसलक्षण' हमें सार्थक इन्सान बनाते हैं। जब क्रोध उपशान्त होगा तो क्षमा का वैभव प्रकट होगा। जब मार्दव की मृदुता के दर्शन होंगे तो अहंकार कहाँ ठहरेगा? आर्जव की ऋतुजा मन-वचन-काय की सरलता को जन्म देगी, तो कटुता, कुटिलता का अन्त स्वयमेव होगा। शौच की शुचिता से निर्लोभिता आयेगी और संचय की विषबेल टूटेगी। सत्य का भाव सत्यार्थ की ओर ले जायेगा, फिर न चोरी के भाव होंगे और न असत्यभाषण के। जिह्वा पर नियंत्रण भी हम कर सकेंगे। न हँसी होगी, न मजाक, बल्कि आत्मसंरक्षण रूप सत्य की प्रवृत्ति जन्म लेगी। बोली अनमोल बनेगी और हम कह सकेंगे-

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जा के हिरदय साँच है, ताके हिरदय आप॥

संयम की साधना हमें सिखायेगी- जीने की कला, जिससे हम जितेन्द्रिय बन सकेंगे। न रस-लोभ होगा न रस-आसक्ति, बल्कि हम विरस आत्मा में सरसता का आस्वाद ले सकेंगे। तप की तपन हमें पतन से बचायेगी और नरक, तिर्यंच गति के दुःख नहीं भोगने पड़ेंगे। बरिहंग तप हमें बाह्य विकृतियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से बचायेंगे और आन्तरिक तप हमारे अन्तरंग को शुद्ध करेंगे। त्याग से दान के भाव बढ़ेंगे और औषधि, शास्त्र (ज्ञान), अभय और आहार दान के फलस्वरूप हम समाज, संत एवं असहायों का संरक्षण कर सकेंगे। इससे जो पुण्यार्जन होगा, उससे हम नीरोग, ज्ञानी, ताकतवर और अजातशत्रु की स्थिति पा सकेंगे। यदि राग-द्वेष का त्याग हो गया तो वीतरागता को कौन रोक सकता है? आकिञ्चन्य की अकिंचनता से हम न गरीब होंगे, न निर्धन, बल्कि उस सम्पन्नता को प्राप्त कर सकेंगे, जिसके बाद हम पुरुष से महापुरुष, शलाकापुरुषों तक की श्रेणी में आ सकते हैं। ब्रह्मचर्य की भावना और क्रियान्विति हमें न एड्स होने देगी और न पतित, बल्कि 'ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचारी' के भावों को साकार करते हुए आत्मभावों के उस लक्ष्य तक पहुँचा देगी जहाँ हम कह सकेंगे- 'जो मैं हूँ सो है भगवान् ज्ञाता द्रष्टा आतमराम।'

क्यों न हम इन दस सोपानों पर चढ़ने का प्रयास करें? हम उतरते/गिरते तो आज तक रहे हैं, अब उठने का सुअवसर आया है पर्युषण पर्व के रूप में। क्या हम मुक्ति के इस अवसर को खोना चाहेंगे? कभी नहीं।

डॉ० सुरेन्द्र जैन 'भारती'

स्वयम्भूस्तोत्र : हिन्दीपद्यानुवाद

प्राचार्य पं० निहालचंद जैन, बीना

श्री वृषभ जिन स्तवन

पर उपदेश बिना, स्व-प्रेरित,
स्वात्मा के जो स्वयम्भू हैं।
सम्यक् प्रज्ञा नयनयुक्त जो,
दिव्य देशना के अम्भू हैं॥
सद्गुणसमूह हरते मोहाज्ञान तिमिर को,
जैसे चन्द्र रश्मियाँ, हरतीं निशा तिमिर को॥ १॥
कर्मभूमि के आद्य-प्रजापति,
जीवन व कृषि कर्मों के शास्ता।
ग्राह्य त्याज्य के प्रखर-पारखी,
श्रेष्ठ ज्ञान-वैभव-अनुशास्ता।
बने विमोचक बाह्य-परिग्रह
निर्ममत्व वैराग्य-प्रवर्तक॥ २॥
इक्ष्वाकुवंश के प्रथम-पुरुष,
सामर्थ्य, जितेन्द्रिय हे मुमुक्षु।
परिषहजय, बाधाओं को सह,
दृढ़व्रत-पालन में अधीत हो।
जो ओढ़े सागर-जल-सारी
तज गये सती वसुधा नारी॥ ३॥
दोषों के सर्जक कर्मों को,
निर्विकल्प समाधि के द्वारा,
परमशुक्ल ध्यानाग्नि से
निर्मम बनकर निर्मूल किया।
तत्त्वज्ञान के पिपासुओं को,
जीवादितत्त्व का बोध दिया।
मृत्युञ्जय हो
शाश्वत सुख के स्वामी बनकर॥ ४॥
केवलज्ञान नयन अवलोकें
जगत जीव के अकथ विषय को।
इन्द्रादिक से अर्चित वंदित,
कर्म-रिपु को कर परास्त,
हे आत्मस्वरूपी बुद्धि-लब्धि नाभिनन्दन।
क्षुद्र वादियों के शासन को जीत लिया,
हे वृषभदेव प्रभु!
निर्मल कर दे मेरे मन को॥ ५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अंश

कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र का स्वरूप

आचार्य श्री विद्यासागर जी

श्री सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर (दमोह, म.प्र.) में मई २००७ में आयोजित श्रुताराधना शिविर में १४ मई २००७ के द्वितीयसत्र में विद्वानों की शंकाओं के समाधानार्थ आचार्यश्री द्वारा किये गये प्रवचन का द्वितीय अंश प्रस्तुत है।

सराग सम्यग्दर्शन या व्यवहार सम्यग्दर्शन में कुछ आलम्बन आवश्यक होता है। सरागसम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए कुछ आलम्बन आवश्यक हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए निरालम्ब होना आवश्यक है। किसके ऊपर विश्वास करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की बात कही है। किसके ऊपर श्रद्धान करें? छह द्रव्यों का श्रद्धान करना है। छह द्रव्यों में चार द्रव्य शुद्ध हैं। वे हमारे लिए सराग सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में कारण कैसे बनेंगे?

हम देखेंगे, छुयेंगे, सूँघेंगे, टटोलेंगे, इन कार्यों में वे चार द्रव्य नहीं आ सकते हैं। वह बात बाद में करेंगे, अब पुद्‌गल द्रव्य के ऊपर विश्वास करोगे, तो क्या विश्वास करोगे? पंचेन्द्रियों के विषय हैं। जीव द्रव्य दिखता नहीं। आप सुन रहे हैं न? सराग सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम होना अनिवार्य है। उसके बिना वह प्राप्त नहीं हो सकता है। यह आगमसम्मत बात है। अब समन्तभद्र स्वामी को थोड़ा सा याद कर लें। थोड़ा कुन्दकुन्द स्वामी से भी बता देंगे। लेकिन पहले समन्तभद्र स्वामी को सुन लो। रत्नकरण्ड श्रावकाचार का यह श्लोक है-

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम-तपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ ४॥

परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। देव को हम बिम्ब के रूप में देख सकते हैं। ये साक्षात् देव हैं नहीं, यह पत्ता कट गया। अब शास्त्र हैं, अब शास्त्रों में कौन सा शास्त्र कहें? सभी लोग अपने-अपने शास्त्र को सच्चा कहते हैं। अब 'तपोभृतां' शब्द आ गया। तपस्वी, इन सबके लक्षण दिये गये हैं। अब बिम्ब के रूप में देव को स्वीकार करना है, जिसको लेकर पंडित जी ने अपनी तरफ से या श्रोताओं की तरफ से प्रश्न कर रखा है। न चतुर्णिकायवाले देवों की बात यहाँ पर कही गई है, न पद्मावती धरणेन्द्र की बात कही गई है, न ही कल्पवासी देवों की बात कही गई है, न ही व्यन्तरों की बात कही गई है। न अहमिन्द्रों की बात कही गई है। न ही नागेन्द्रों की बात कही गई है। यहाँ पर बात कही गई है आप्त की। परमार्थभूत आप्त कौन होता है? उनका लक्षण क्या है?

उसके लिए भी समन्तभद्र स्वामी ने एक कारिका दी है-

क्षुत्पिपासा-जरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च, यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥
र.श्रा.श्लो. ६॥

ये **परमार्थभूत आप्त** हैं, जो क्षुधा आदि अठारह दोषों से रहित हैं। वे ही हमारे देव हैं, वे ही हमारे आराध्य हैं। वे ही हमारे नमस्कार के योग्य हैं। इन पर हम विश्वास करेंगे और इनका स्वरूप ज्ञात कर उस पर श्रद्धा करेंगे, तो हमें सम्यग्दर्शन का लाभ होगा। यद्यपि यह नियम नहीं है, हो भी सकता है नहीं भी हो सकता है। बाहर के माध्यम से नहीं, भीतर के माध्यम से **'दंसणमोहस्सखयपहुदी'** (नि.सा.) दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय आदि होगा, ऐसा आगम का वचन है। दर्शन-मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम के माध्यम से ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। यहाँ पर जिनदेव, निर्ग्रन्थ गुरु एवं जिनसूत्र का आलम्बन अनिवार्य है, सराग सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए बाहरी आलम्बन आवश्यक है। जैसे प्रत्येक द्रव्य में पर्याय की उत्पत्ति में व्यवहार-काल की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार यहाँ पर भी सम्यग्दर्शन हमारे अन्दर उत्पन्न होगा, किन्तु इनके आलम्बन से होगा। गुरु महाराज आदि को जो निश्चय सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगा, तो इस व्यवहार को गौण करेंगे और आत्मा का आलम्बन लेंगे, तो निश्चय सम्यग्दर्शन, अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति होगी। इसलिए सामायिक आदि कालों में हम सारे के सारे व्यवहार कार्यों को छोड़कर के, पुण्य के कार्यों को छोड़कर के, पुण्य का मतलब **आवश्यक कार्यों** को छोड़कर के सिर्फ आत्मा का ही आश्रय लेते हैं अर्थात् सामायिक तो करेंगे। अब देव का स्वरूप बता दिया। अठारह दोषों से रहित होते हैं। अठारह दोष कौन से हैं? क्षुधा को पहले शांत करो। फिर क्षुधा आदि को लेकर प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, अरति, निद्रा, आश्चर्य, मद, स्वेद, और खेद इन अठारह दोषों से रहित वीतराग भगवान् हैं।

जिनबिम्ब ही साक्षात् जिनदेव

यह पहले कह दिया कि भगवान् साक्षात् तो मिलने वाले नहीं हैं, जिस प्रकार चार शुद्ध द्रव्य नहीं मिलेंगे। कोई ऐसा प्रभाव हो जाय, तो बात अलग है, कोई विदेह क्षेत्र में ले जाय, तो बहुत अच्छा काम हो जाय। लेकिन ऐसा होना संभव नहीं है। अत: काम चलाओ, **जिनबिम्ब को ही साक्षात् जिनदेव मानो।**

कई लोगों की यह धारणा है कि जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन से सम्यक्त्व की प्राप्ति मानना भी मिथ्यात्व है। अभी सुनिये पंडित जी! हमारे पास बहुत प्रकार के ग्राहक हैं। माल तो अपने को बेचना है, लेकिन ऐसा नहीं बेचेंगे हम कि-

'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा।
अंधेर नगरी, चौपट राजा॥'

हम किसी का माल ज्यादा लेते नहीं, तो कम भी क्यों लेवें हम? न कम तौलते हैं, न कम देते हैं। यहाँ तो शुद्ध १०० टंच सोना मिलेगा। अब देखो, अठारह दोषों से रहित आप्त हैं। अब अपने को दोष ढूँढना है। यही हमारे लिए आवश्यक है। न ही यहाँ कल्पवासी देव हैं। न कुदेव हैं, न सुदेव हैं, न अदेव हैं। न ही चतुर्णिकाय के देव हैं। **'देवाश्चतुर्णिकाया:'** इनका सार्वभौमिक क्षेत्र है। क्योंकि ये परमार्थभूत देव नहीं हैं। जो अठारह दोषों से रहित होंगे वे ही परमार्थभूत देव हैं। अठारह दोषों से युक्त हैं या एक भी कम है, तो ऐसे देव यहाँ प्रासंगिक हैं ही नहीं।

'क्या वे मिथ्यादृष्टि हैं?'

हम कहाँ कह रहे हैं कि वे मिथ्यादृष्टि हैं, हम तो कह रहे हैं कि हमारे आराध्य तो अठारह दोषों से रहित ही हैं। समन्तभद्र महाराज जी कह रहे हैं। कोई व्यक्तिविशेष नियामक नहीं है। अन्य देव के आलम्बन से सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। इसको नहीं मानना समन्तभद्र महाराज जी को नकारना है। सम्पूर्ण जिनागम को नकारना है।

आप्त की परीक्षा करनेवाले हैं वे। आप कहाँ जा रहे हैं? भविष्य सुधारना चाहो, तो सुधार लो। तो अठारह दोषों से रहित हैं, उनमें सर्वज्ञत्व कहाँ है? क्या आपने कभी सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व को चश्मा लगाकर देखा है? वे तो दिखाई नहीं देते। परन्तु वे कहते हैं कि सर्वज्ञत्व के बिना तो सम्यग्दर्शन नहीं होता है।

कई व्यक्ति आते हैं हमारे पास और कहते हैं, 'महाराज जी! आप सम्यग्दर्शन की बात ही नहीं करते हैं।' हाँ, बात तो हम नहीं करते हैं। इसलिए नहीं करते कि हमें डर है, यदि दूसरी बात कह दें, तो समन्तभद्र महाराज हमारे लिए क्या कहेंगे। वे कहते हैं कि सर्वज्ञत्व की कोई आवश्यकता नहीं। सर्वज्ञत्व के विश्वास को विषय बनाये बिना भी हम सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। समन्तभद्र महाराज ऐसा कहते हैं। हम नहीं कह रहे हैं, किन्तु यह पंक्ति ध्यान रखो, **मिथ्यादृष्टि की दृष्टि में भी वीतरागता झलकती है, लेकिन सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में भी सर्वज्ञत्व नहीं आ सकता। वीतरागता के ही आलम्बन से सात तत्त्वों की समीचीन श्रद्धा उत्पन्न होगी।**

सर्वज्ञत्व को विषय बनाने का अधिकार तो क्षायिक ज्ञान को जाता है। मिथ्यादृष्टि बना बैठा है, भगवान् की परीक्षा क्या करेगा। कुछ नहीं कर सकता। वह भीतरी वस्तु है, बाहर से नहीं दिख सकती। ये कितने शांत बैठे हैं। ये न राग करते हैं, न द्वेष करते हैं। देखो तो, न खाते हैं, न पीते हैं। कोई प्रशंसा कर देता है, तो प्रसन्न नहीं होते, और कोई निन्दा कर देता है, तो आगबबूला नहीं होते हैं। न वरदान देते हैं न शाप। न शस्त्र रखते हैं और न शास्त्र रखते हैं। अब कोई आवश्यकता नहीं है। बहुत शांत बैठे हैं। मिथ्यादृष्टि देख करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। अपनी दृष्टि में भेदविज्ञान बना लेता है। मिथ्यादृष्टि को भी वहाँ सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है और सम्यग्दृष्टि का वहाँ पर सम्यग्दर्शन दृढ़ हो जाता है। फिर भी देवत्व कायम है, इसको आप याद रखिये। इधर-उधर की बातों में लगना नहीं, यही समन्तभद्र स्वामी ने कहा है। अब रही बात, परमार्थभूत देव ये हैं। इनकी आराधना करो। इनकी आराधना से सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है, तो पुष्ट होगा। उत्पत्ति के लिए और पुष्टि के लिए इनकी पूजा, आराधना करो। दोनों के लिए पच्चीस क्रियायें होती हैं। अब ध्यान से सुनिये, बहुत मार्मिक बात कह रहा हूँ। पच्चीस क्रियायें सारी-की-सारी साम्परायिक आस्रव का कारण हैं, यह कहा गया है। लेकिन ज्यों ही सम्यक्त्व क्रिया की बात आती है वहाँ पर हमें सावधान किया जाता है। सुनिये, देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करने से भी साम्परायिक आस्रव होता है। इसे छोड़ दो, ऐसा कहीं नहीं कहा। **सम्यक्त्व क्रिया क्या है? सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में कारण है,**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसे सम्यक्त्ववर्धनी कहा है। मार्के की बात आप सुन लीजिये।

जिसे सम्यक्त्ववर्धनी कहा गया है, उसको आप केवल बंध के लिए कारण कहोगे, तो हम इस कथन को सहन नहीं कर पायेंगे। क्योंकि यह कथन आपका अपना है, जिनागम का नहीं। जिनागम का नाम लेकर आप कहेंगे, तो लोग तूफान खड़ा कर देंगे, ध्यान रखना, पुनः सुन लीजिये, हम बार-बार कह सकते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं। बार-बार कहने से हमें मुखाग्र हो जाता है। नोट्स लिखने की हमारी आदत नहीं है। क्या करें, इसी माध्यम से नोट्स बनाते रहते हैं।

इस क्रिया को सम्यक्त्ववर्धनी कहा है। **जिस क्रिया को आगम में सम्यक्त्ववर्धनी लिखा है, उसको आप केवल कर्मबंधनी क्रिया कहो, तो यह संवर तत्त्व और निर्जरा तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है।** यह तत्त्वज्ञान नहीं है। इसके माध्यम से युग को विपरीत दिशा मिलती है। युग को घुमाया जा रहा है, भ्रमित किया जा रहा है। यह न कुन्दकुन्द स्वामी की प्रभावना है, न समन्तभद्र स्वामी की प्रभावना है। न ही भगवान् महावीर की प्रभावना है। हम सब कुछ देख रहे हैं, सब कुछ पढ़ रहे हैं। सबका समय निरर्थक व्यतीत हो रहा है। आवश्यक हो जाता है, तो ये सब बातें हम सुनते हैं। इसलिए सुनते हैं कि जवाब भी देना पड़ता है। नहीं तो, सुने बिना जवाब कैसे देंगे? अच्छे ढंग से सुनना चाहिए। यदि शास्त्र के रूप में स्वीकार करलें, तो हमारा भी अहित हो जाएगा। शास्त्र तो शास्त्र है। लेकिन अन्य शास्त्रों को पढ़कर के इस तरह से स्पष्टीकरण देता है, तो उसके लिए आधार-सहित, इस प्रकार की गर्जना भी करनी पड़ती है। इसको अन्यथा न ले।

आप सोच रहे होंगे कि महाराज इतने जोर से क्यों बोल रहे हैं? यह स्वाभाविक है। जैसे सम्यक्त्व की वर्धनी हो जाती है, उसी प्रकार दिव्यध्वनि-वर्धनी भी आ जाती है। करंट आ ही जाता है। वह कहाँ रहता है, पता नहीं। उस गद्दी का या उस सिंहासन का या उस शरण लेने की महिमा का प्रभाव है। समन्तभद्र स्वामी जोर देकर के कहते हैं, घबराओं नहीं, हम पीछे हैं या ऊपर हैं। तुम बोलते जाओ। सूत्रधार पर्दे के पीछे होता है और वह सुनता रहता है। समन्तभद्र महाराज सुन रहे हैं। हम कैसे बोल सकते हैं। पीछे से धीरे-धीरे बोलते रहते हैं, उसी के माध्यम से हम बोलते हैं। हम को याद करने की कोई आवश्यकता नहीं, वे पीछे हैं। वे आप लोगों को सुनने में नहीं आयेंगे। हमारा सम्बन्ध उन्हीं के साथ है। आप लोगों का नहीं है। हमारे पास मोबाइल है, लेकिन आप लोगों के पास नम्बर है ही नहीं। हम आप लोगों को नम्बर दे सकते हैं, उन्होंने कह रखा है। लेकिन देख-परख करके देना, नहीं तो यूँ ही बहा दो। दुबारा कह रहा हूँ, निर्जरा तत्त्व का श्रद्धान यथार्थ रूप में आज नहीं है।

इस प्रकार जो भी व्यक्ति बोल रहा है, उसके भी संवर और निर्जर तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान नहीं है और न ही उसे आस्रव तत्त्व का ज्ञान है। जिसको सम्यक्त्व-वर्धनी क्रिया कहा है, उसको आप लोग बंध का कारण कहते हैं। यह भी कहते हैं कि देव-शास्त्र-गुरु की पूजा से केवल बंध ही होता है।

बंध तत्त्व जो होता है, वह एक प्रकार से शुद्धोपयोग के विपरीत होता है। अशुद्धोपयोग शुभोपयोग और अशुभोपयोगात्मक होता है। जो उपयोग बंध करा रहा है वह संवर-निर्जरा नहीं करा सकता है, यदि ऐसा प्रवचन दोगे तो वह आगम के विपरीत होगा।

'शुभोपयोग के द्वारा संवर-निर्जरा मानना मिथ्यात्व है।' इस प्रकार का कथन करनेवाला ग्रन्थ या साहित्य लोग फ्री में भी देते हैं, तो नहीं लेना चाहिए। कुछ चीजें ऐसी बीमारी पैदा करनेवाली होती हैं, जिन्हें लोग मुफ्त में बाँटते हैं और उनको खा लो या पी लो, तो आपका काम करना बंद हो जायेगा। पैसे के लोभ में ऐसे ग्रन्थ खरीदोगे, तो फिर मैं नहीं जानता कहाँ की यात्रा करनी पड़ जाय। हम दया करके बता रहे हैं। फिर आपकी जैसी इच्छा हो। जैसा आपका लोभ है, उसका फल आपको ही झेलना पड़ेगा। ''महाराज! वहाँ से बिना खरीदे आ रहा है। यहाँ कोई देता नहीं है। मुफ्त में मिल जाता है, तो उससे आत्मा का कुछ तो उद्धार होगा।'' सुनलो, आत्मा का उद्धार पूरा होता है, कुछ-कुछ नहीं। जब मुफ्त में दिया जा रहा है तो गड़बड़ी अवश्य है। कह-कह करके दिया जा रहा है। वह सही नहीं है। जिस प्रकार देव और गुरु की परख करते हो, उसी प्रकार शास्त्र की परख करने के लिए भी सूत्र-ग्रन्थ लिखे गये हैं।

शेष अगले अंक में

'श्रुताराधना (२००७)' से साभार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीरशासन जयन्ती : एक अद्वितीय महापर्व

मुनि श्री प्रणम्यसागर जी

आज से पच्चीस सौ पैंसठ (२५६५) वर्ष पहले श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को राजगृही नगरी के विपुलाचल पर्वत पर अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर की दिव्य-ध्वनि खिरी थी। दिव्यध्वनि के द्वारा ही धर्मतीर्थं की प्रवृत्ति होती है। इसी दिन से महावीर भगवान का शासन प्रारम्भ होता है, इसलिए यह प्रथम देशनादिवस 'वीर शासन जयन्ती' के रूप में मनाया जाता है।

भगवान् महावीर का यह महान् उपाकर हमें भूलना नहीं चाहिए कि उनके अभाव में भी उनकी वाणी हमें आज प्राप्त है। इस वाणी को ही जिनवाणी, वीरवाणी या द्वादशाङ्गरूप श्रुत कहते हैं। इस परम पुनीत श्रुत-ज्ञान के बिना हमें कभी इष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती। आचार्य विद्यानन्दी जी ने इस महान् उपकार का वर्णन इस प्रकार किया है-

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,
स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धै-
र्नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥ (आप्तपरीक्षा)

अर्थात् अभीष्ट फल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान समीचीन शास्त्र से होता है। उस शास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है। उनके प्रसाद से ही शास्त्र की प्राप्ति होती है। इसलिए वे आप्त प्रबुद्ध गणधर आदि से पूज्य हैं क्योंकि किये हुए उपकार को साधु पुरुष भूलते नहीं हैं।

वैसे 'शासन' शब्द आज्ञा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु यहाँ शासन शब्द से आज्ञा या आदेश विवक्षित नहीं है। यह शासन सत्ता या प्रभुता का नहीं है, अपितु आत्मानुशासन का है। भगवान महावीर सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशक थे। उनका हित का उपदेश भव्य संसारी जीवों को संसार से पार उतारनेवाला है। अत: यहाँ शासन शब्द से तीर्थ अर्थ समझना चाहिए। 'तीर्थं करोतीति तीर्थङ्करः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भगवान् महावीर धर्मतीर्थ के प्रवर्तक थे। इस दु:षम पञ्चम काल में धर्मतीर्थ की उत्पत्ति का यह दिवस जानना चाहिए।

भगवान् महावीर की यह प्रथम दिव्यध्वनि कहाँ हुई? इस प्रश्न के उत्तर में कसायपाहुड पु. १ में श्री वीरसेन आचार्य ने लिखा है-

''रायगिहणयर-णेरयि-दिसमहिट्ठियविउल-गिरि-पव्वए सिद्धचारणसेविए, बारहगण परिवेड्ढिएण कहियं।''

अर्थात् राजगृही नगरी की नैऋत्य दिशा में स्थित तथा सिद्ध और चारणों से सेवित 'विपुलाचल पर्वत' पर बारह गणों से परिवेष्टित भगवान् महावीर ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया।

हरिवशपुराण (२/६१, ६२) में भी कहा है- ''छयासठ दिन तक मौन से विहार करते हुए, श्री वर्धमान जिनेन्द्र जगत्प्रसिद्ध राजगृह नगर आए। वहाँ जिस प्रकार सूर्य उदयाचल पर आरूढ होता है, उसी प्रकार वे लोगों को जागृत करने के लिए विपुल लक्ष्मी के धारक विपुलाचल पर्वत पर आरूढ हुए।

इस धर्मतीर्थ की उत्पत्ति किस समय हुई, इस सम्बन्ध में अनेक प्रमाण हैं-

इम्मिस्सेव सप्पिणीए चउत्थकालस्स पच्छिमे भाए।
चोत्तीस वासावसेसे किंचि विसेसूणकालम्मि॥

(कसायपाहुड/पु० १)

अर्थात् इस अवसर्पिणी काल के दु:षम-सुषमा नामक चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चौंतीस वर्ष बाकी रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई है। कुछ कम से तात्पर्य यहाँ नौ दिन छह महीना अधिक से है। अत: नौ दिन, छह महीना अधिक, तेतीस वर्ष अवशिष्ट रहने पर चतुर्थकाल में धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई है। दिव्यध्वनि का यह सामय श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा का प्रात:काल का समय है, जब अभिजित् नक्षत्र का उदय था। हरिवंशपुराण (२/९१) में कहा है-

श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः।
प्रतिपद्यह्नि पूर्वाह्ने शासनार्थमुदाहरत्॥

इसी प्रकार-

वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवद-पुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजम्हि॥
सावण-बहुल-पडिवदे रुद्द-मुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढम-जोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वो॥

अर्थात् वर्ष के प्रथम मास (श्रावण मास) में, प्रथम पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष में प्रतिपदा के दिन प्रात: काल के समय आकाश में अभिजित् नक्षत्र के उदित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहने पर धमतीर्थ की उत्पत्ति हुई। श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन रुद्र मुहूर्त में सूर्य का शुभ उदय होने पर और अभिजित् नक्षत्र के प्रथम योग में जब युग का आदि हुआ, तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिए।

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा का यह दिवस ही युग के आदि का दिवस है। युग की समाप्ति आषाढ़ की पौर्णसासी को होती है। पौर्णमासी की रात्रि के अनन्तर ही प्रातः श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को अभिजित् नक्षत्र, बालवकरण और रुद्र मुहूर्त में ही युग का आरम्भ होता है। युग के आरम्भ से तात्पर्य सुषम-सुषमा आदि काल का विभाग अथवा उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल के प्रारम्भ होने से है। इस तिथि के लिए सभी दिगम्बरीय और श्वेताम्बरीय ग्रन्थ एकमत हैं। एक श्वेताम्बरीय ग्रन्थ की टीका में लिखा है कि भरत, ऐरावत और महाविदेह क्षेत्रों में युग का आदि इसी तिथि से होता है- "**भरतैरावते महाविदेहेषु च श्रावणमासे कृष्णपक्षे बालवकरणेऽभिजिन्नक्षत्रे प्रथमसमये युगस्यादि विजानीहि।**" (मलयागिरि-ज्योतिषकरण्डटीका)

इन्हीं मलयगिरि ने लिखा है कि "**सर्वेषामपि सुषमसुषमादिरूपाणां कालविशेषाणामादि युगं, युगस्य चादिः**"

अर्थात् सभी सुषमा-सुषमा आदि विशेषों के प्रारम्भ होने का नाम युग है। और इस युग का प्रारम्भ इसी तिथि में होता है।

इस सम्पूर्ण वर्णन से यह स्पष्ट रूप से समझ में आता है कि इसी भारतवर्ष में इन आचार्यों के समय में इस तिथि का बहुत यशोगान था। नया युग, नया वर्ष, नवमास इस तिथि को माना जाता था। एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि नक्षत्र, करण और मुहूर्त में भी अभिजित् नक्षत्र, बालवकरण और रुद्र मुहूर्त से नक्षत्रों, कारणों और मुहूर्तों की गणना प्रारम्भ होती है अर्थात् ये नक्षत्र आदि ही प्रथमस्थानीय हैं। इस दिन सम्पूर्ण जैनजगत् में बहुत पहले खुशियाँ मनाई जाती थीं, पर आज हम देखते हैं कि जनवरी के प्रथम दिन नववर्ष की हम खुशियाँ मनाते हैं। यह जैनजगत् के प्रत्येक धर्मी के लिए एक शोचनीय विषय है। इस तिथि का महत्त्व वीरनिर्वाण दिवस से भी ज्यादा है, क्योंकि वीर के निर्वाण से भी ज्यादा हर्ष हमें इस बात का होना चाहिए कि तीर्थ का प्रवर्तन ही हम सब के लिये आज कल्याणप्रद है और यह तीर्थ पञ्चम काल के अन्त तक इक्कीस हजार वर्ष तक भव्य जीवों का उद्धार करता रहेगा।

पं० परमानन्द जी शास्त्री ने अपने इसी विषय पर एक लेख में लिखा है कि "ऐसी महत्त्वपूर्ण एवं मांगलिक तिथि को, खेद है कि हम अर्से से भूले हुए थे। सर्वप्रथम मुख्तार साहब ने धवल ग्रन्थ से वीर शासन की इस जन्मतिथि का पता चलाया और उनके दिल में यह उत्कट भावना उत्पन्न हुई कि इस दिन हमें अपने महोपकारी वीर प्रभु और उनके शासन के प्रति अपने कर्तव्य का कुछ पालन जरूर करना चाहिए। तदनुसार उन्होंने १५ मार्च सन् १९३६ को '**महावीर की तीर्थ प्रवर्तन-तिथि**' नाम से एक लिखा और उसे तत्कालीन '**वीर**' के विशेषाङ्क में प्रकाशित कराया।

उन्हीं मुख्तार जी के शब्दों में-

यह तिथि- इतिहास में अपना खास महत्त्व रखती है और एक ऐसे 'सर्वोदय' तीर्थ की जन्म तिथि है जिसका लक्ष्य 'सर्वप्राणिहित' है।

इस दिन- श्री सन्मति-वर्द्धमान-महावीर आदि नामों से नामाङ्कित वीर भगवान् का तीर्थ प्रवर्तित हुआ, उनका शासन शुरू हुआ, उनकी दिव्यध्वनि पहले पहल खिरी, जिसके द्वारा सब जीवों को उनके हित का सन्देश सुनाया गया।

इसी दिन- पीड़ित, पतित और मार्गच्युत जनता को यह आश्वासन मिला कि उसका उद्धार हो सकता है।

यह पुण्य दिवस- उन क्रूर बलिदानों के सातिशय रोक का दिवस है, जिनके द्वारा जीवित प्राणी निर्दयता पूर्वक छुरी की धार पर उतारे जाते थे अथवा होम के बहाने जलती हुई आग में झौंक दिये जाते थे।

इसी दिन- लोगों को उनके अत्याचारों की यथार्थ परिभाषा समझाई गई और हिंसा-अहिंसा तथा धर्म-अधर्म का तत्त्व पूर्णरूप से बतलाया गया।

इसी दिन से- स्त्री जाति तथा शूद्रों पर होनेवाले तत्कालीन अत्याचारों में भारी रुकावट पैदा हुई और वे सभी जन यथेष्ट रूप से विद्या पढ़ने तथा धर्मसाधना करने के अधिकारी ठहराये गये।

इसी तिथि से- भारत वर्ष में पहले वर्ष का प्रारम्भ हुआ करता था, इत्यादि। ('अनेकान्त' / जून १९३९)

आज श्रावक जन इस तिथि के महत्त्व से परिचित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं हैं और हैं भी तो उनके दिलो-दिमाग में इस तिथि की उतनी महत्ता नहीं है, जितनी अन्य तिथियों की। इसलिए आज हम सभी साधुसन्तों और श्रावकों को इस तिथि की महत्ता समझ कर आज के दिन भगवान महावीर के उपदेशों को प्रचारित-प्रसारित करने और नव वर्ष की तिथि मानकर हर्ष-उल्लास से अपने आचरण को अहिंसा, अपरिग्रह की परिधि में ढालकर अनेकान्त, स्याद्वाद के विचारों से सन्तुलित करके, अजैनों में छोटी-छोटी सरल-सुपठनीय पुस्तकों को प्रेषित करके भगवान् महावीर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रेषित करनी चाहिए। इस लेख को लिखने की यही पावन भावना है। पुनः याद रखें- ''न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।''

अमरकंटक में गूँजती मंगलध्वनि

मैकल के शिखर अमरकंटक में श्रमणपरम्परा के उन्नायक प्रख्यात आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने विशाल जनसमूह को सम्बोधित करते हुए कहा कि पगडण्डी पर कभी दुर्घटना नहीं होती, जब कि आधुनिक मार्गों पर तीव्र गति से भागने वाले वाहनों से दुर्घटना की आशंका रहती है। दूरस्थ वनों में जीवनयापन करनेवाले आदिवासी प्रकृति प्रदत्त ज्ञान से परिपूर्ण हैं। पग-पग चलकर निश्चिन्त, निर्बाध, यात्रा करनेवालों को अशिक्षित तथा पल-पल आशंका से ग्रस्त यात्रा करनेवालों को सुशिक्षित बताना किस ज्ञान की देन है? यदि इन्हें ही प्रगतिवादी कहते हैं तो, ऐसी प्रगति को दूर से ही सलाम।

आदिवासी सभ्यता और अनादिवासी जीवनशैली के मध्य रोचक, किन्तु गंभीर अन्तर स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री विद्यासागर जी ने कहा कि अक्षर का अध्ययन मात्र ज्ञान का प्रतीक नहीं है। विद्यालयों में भौतिक शिक्षा ग्रहण कर संसार चिन्ताग्रस्त, अवसादग्रस्त हो रहा है। किसी विद्यालय में आत्मोत्थान का पाठ्यक्रम नहीं है। जीवन एक यात्रा है। इस यात्रा में आत्मकल्याण की कितनी शिक्षा दी गई? वनों के निवासी पढ़े लिखे नहीं हैं, किन्तु संतोषधन से सराबोर हैं, प्रकृति से इतनी मात्रा लेते हैं, जिससे आज की पूर्ति हो जाए। निश्चिन्त हैं, द्वार पर ताला लगाने की भी आवश्यकता नहीं। जीवन मर्यादित है। विद्यालय में शिक्षा प्राप्त नहीं की, संतोष धरोहर के रूप में प्राप्त हो गया। जिन्हें शिक्षित, सभ्य, प्रगतिशील, विज्ञान का ज्ञाता बताया जाता है, जिनके संग्रह की सीमा नहीं, किन्तु क्षण भर भी संतोष की अनुभूति नहीं, यह कौन सा शिक्षण-प्रशिक्षण है, हमें बताओ। संतोषी को रुढिवादी और असंतोषी को प्रगतिवादी कहना ज्ञान की कौन सी धारा है? आचार्य श्री ने पूछा कौन है प्रगतिवादी, कौन है रूढिवादी? लोकतंत्र में साक्षर बनाने का संकल्प लिया है, यह अच्छा है, किन्तु आत्मकल्याण की शिक्षा का प्रबंध हो, तो अधिक अच्छा है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने आदिवासी संस्कृति के माध्यम से अध्यात्म की अनुभूति कराते हुए कहा कि विशुद्ध परिसर को पार कर आयी हुई वायु प्राप्त होती है, तो ऊर्जा-स्फूर्ति प्रदान करती है, किन्तु यही वायु प्रदूषित प्रक्षेत्र पार कर प्राप्त हो, तो प्राणलेवा भी हो जाती है। मन का प्रदूषण दूर करने के लिए ग्राम्य अंचलों में रात्रि भर भजन कीर्तन वाद्य यंत्रों के माध्यम से करके भगवान् और भक्त में ऐक्य करने की क्रिया की जाती है, किन्तु हाईवे पर दृश्य परिवर्तित हो जाता है। एकान्त निवासियों की अनुभूति का बोध कराते हुए आचार्यश्री ने कहा कि **'दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णा वश धनवान। कहीं न सुख संसार में सब जग देखो छान।'** धनवान की तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती, फलतः पूरा जीवन दुख की अनुभूति में व्यतीत हो गया, क्या दिया इस संग्रह ने, शिक्षा ने, संस्कार ने ? स्वानुभवी के पास उपलब्ध धन की कोई सानी नहीं। कल आया नहीं, अभी आज का अस्तित्व समाप्त हुआ नहीं, किन्तु कल की चिन्ता में जीवनयात्रा पूरी हो गई। तृष्णा ने कभी संतोष को समीप आने नहीं दिया। संतोषधन को मुक्ति की प्रथम सीढ़ी बताते हुए आचार्यश्री ने कहा कि इसके आराधक को अरहन्त बनने में कोई बाधक नहीं। दरिद्र होना दुख का प्रतीक नहीं, मेरे पास कुछ नहीं कुछ पाने की चाहत भी नहीं। तृष्णावश धनवान दुखी है, संतोषी को चाह नहीं, कौन शिक्षित है कौन अशिक्षित? जीवन यात्रा को सुगम बनाना है या दुर्गम, यह समाधान समाज को तलाशना है। किस मार्ग से चलना है? जिस पर कोई दुर्घटना न हो अथवा वह जिस पर चिन्ता बनी रहती है? उचित मार्ग पर यात्रा करनेवालों की संख्या समाप्त तो नहीं हुई, किन्तु नगण्य अवश्य है। यह ज्ञान प्रदान करते हुए आचार्य श्री ने कहा कि **दुर्लभ है संसार में एक जथारथ ज्ञान।**

प्रेषक- वेदचन्द्र जैन,
गौरेला पेण्ड्रारोड

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन कर्म सिद्धान्त

स्व० पं० मिलापचन्द्र जी कटारिया

एक मुमुक्ष प्राणी के सामने ४ प्रश्न उपस्थित होते हैं- १. संसार क्या है? २. संसार के कारण क्या हैं? ३. मोक्ष क्या है? ४. मोक्ष के क्या कारण हैं? इन्हीं चारों प्रश्नों के समाधान में ७ तत्त्व छिपे हुए हैं और उन्हीं के साथ कर्मसिद्धांत भी। चेतन-अचेतन पदार्थों से भरा हुआ, जो स्थान है वह संसार है। इस प्रथम प्रश्न के उत्तर में २ तत्त्व आते हैं- जीव और अजीव। चतुर्गतिरूप दुःखमय संसार में यह जीव कर्मों के फल से परिभ्रमण किया करता है और जब तक कर्म आ-आकार जीव के बँधते रहते हैं, तब तक जीव का संसार से छूटना नहीं हो सकता है। इस दूसरे प्रश्न के उत्तर में आस्रव और बंध ये दो तत्त्व आ जाते हैं। सब कर्मों के बन्धन से छूट जाना इसका नाम मोक्ष है। इस तीसरे प्रश्न के उत्तर में मोक्षतत्त्व आ जाता है। नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होने देना और पुराने बँधे कर्मों को खिपा देना ये दो बातें मोक्ष का कारण हैं, इस चौथे प्रश्न के उत्तर में संवर और निर्जरा ये दो तत्त्व आ जाते हैं। इस प्रकार चारों प्रश्नों के समाधान में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ तत्त्वों की उपलब्धि होती है। इन्हीं सत्यार्थ ७ तत्त्वों के श्रद्धान करने को जैनधर्म में सम्यग्दर्शन (यथार्थ दृष्टि) कहा है। यही मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी है।

अनन्त जीवों से व्याप्त यह संसार अनादिकाल से चला आ रहा है और आगे अनन्तकाल तक चलता रहेगा। इस संसार में रहनेवाले जीवों में कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई नर है, कोई मादा है, कोई सबल है, कोई निर्बल है, कोई बुद्धिमान है, कोई मूर्ख है, कोई कुरूप है, कोई सुरूप है, इत्यादि जीवों की नाना प्रकार की अवस्थायें जो देखी जाती हैं, उनका कारण जीव के किए हुए शुभाशुभ कर्मों के सिवाय और कुछ नहीं है। जब यह प्राणी अपने मन वचन काय से अच्छे बुरे काम करता है, तब आत्मा में कुछ हरकत पैदा होती है। उस हरकत से सूक्ष्म पुद्गल के अंश आत्मा से सम्बन्ध कर लेते हैं, इनको ही जैनधर्म में कर्म बताया है। इन्हीं शुभाशुभ कर्मों के फल से जीव की अच्छी बुरी अनेक दशायें होती हैं। कुछ लोग इनका कारण ईश्वर को ठहराते हैं। पर यह ठीक नहीं है। अव्वल तो ईश्वर को सृष्टि रचने की जरूरत ही क्यों हुई? न रचने पर उसकी कौन सी हानि हुई थी? और रची भी, तो किसी को सुखी, किसी को दुखी आदि क्यों बनाया? यदि कहो कि जीव, जो अच्छे बुरे काम करता है, उनका वैसा ही अच्छा-बुरा फल ईश्वर देता है, उसी से जीवों को ये विविध प्रकार की अवस्थायें देखने में आती हैं, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं हैं। क्योंकि जब ईश्वर स्वयं बुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है, तो जीवों को पहिले पापकर्म करने ही क्यों देता है, जिससे आगे चलकर उसे उन पापियों को फल देने की नौबत आवे? हाकिम के सामने अपराध करे, तब तो उसे हाकिम मना करे नहीं और अपराध हो चुकने के बाद उसे दण्ड देवे, हाकिम का ऐसा करना योग्य नहीं है। इसके अलावा हम पूछते हैं कि ईश्वर समस्त सृष्टि में व्यापक है, तो व्यापक में क्रिया नहीं हो सकती है। देश से देशान्तर होने को क्रिया कहते हैं। व्यापक में यह क्रिया असम्भव है। क्योंकि व्यापक सर्वक्षेत्र में व्याप्त है, इसमें कोई भी क्षेत्र अवशेष नहीं रहता है, जिसमें क्रिया हो सके। क्रिया के बिना सृष्टि की रचना नहीं हो सकती है। अव्यापक माने, तो सर्वक्षेत्र की क्रियायें नहीं हो सकेंगी। जो ईश्वर को अशरीरी मानें, तो अमूर्तिक से मूर्तिमान कार्य नहीं हो सकते हैं वर्ना अमूर्त आकाश से मूर्त पदार्थ उत्पन्न होने लगेंगे। तब असत् से सत् पदार्थ की उत्पत्ति हो जायेगी। जो ईश्वर को शरीरसहित मान लिया जाये, तो ईश्वर सब को दिखना चाहिए और उसे निरञ्जन नहीं कहना चाहिए। जो ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानें, तो सबको सुखी व सुन्दर बनाना चाहिए। यदि कहो कि बुरे काम करनेवालों को बुरा बनाये, तो कर्म बलवान हुए, ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानना नहीं हो सकेगा। सर्वशक्तिमान् नहीं मानने से समस्त सृष्टि की रचना उससे नहीं हो सकती है और सब काम उसी के लिये होते हैं, तो वेश्या, चोर उसने क्यों बनाये जिससे पापाचरण करना पड़े? सृष्टि बनाने के पहले संसार में कुछ पदार्थ थे या नहीं? जो पदार्थ थे, तो ईश्वर ने क्या बनाया? जो पदार्थ नहीं थे, तो बिना पदार्थों के सृष्टि कैसे बनाई? बिना बनाये कुछ नहीं होता तो ईश्वर को स्वयं बना हुआ मानें तो सृष्टि को भी स्वयं बनी हुई क्यों न मानें?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी काम ईश्वरकृत मानें, तो प्रत्यक्ष का लोप होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष में घटपट गृहादिक मनुष्यकृत देखे जाते हैं। सभी काम ईश्वरकृत मानने से जीवों के पुण्यपाप सब निरर्थक हो जायेंगे। न तो किसी को हिंसा आदि पाप कार्यों का फल मिलेगा और न किसी को जप, तप, दया आदि पुण्य कार्यों का फल मिलेगा। क्योंकि ये तो जीवों ने किये ही नहीं, यदि ईश्वर ने किये हैं, तो इनका फल जीवों को मिलना क्यों चाहिए? तब निःशंक हो प्राणी पाप करेंगे और पुण्य कार्यों से विमुख रहेंगे।

इस प्रकार ईश्वर को कर्ता मानने में इस तरह के अन्य भी अनेक विवाद खड़े होते हैं। किसी कर्म का फल हमें तुरन्त मिल जाता है, किसी का कुछ माह बाद मिलता है, किसी का कुछ वर्ष बाद मिलता है और किसी का जन्मांतर में मिलता है। इसका क्या कारण है? कर्मों के फल के भोगने में समय की यह विषमता क्यों देखी जाती है? ईश्वरवादियों की ओर से इसका ईश्वरेच्छा के सिवाय कोई सन्तोषकारक समाधान नहीं मिलता। किन्तु कर्मों में ही फलदान की शक्ति मानने वाला कर्मवादी जैनसिद्धान्त उक्त प्रश्नों का बुद्धिगम्य समाधान करता है।

जैनशास्त्रों का कहना है कि बाईस भेद स्कन्ध के और एक भेद अुण का इस प्रकार पुद्‌गल के कुल २३ भेद होते हैं। इन्हीं को २३ वर्गणायें कहते हैं। इनमें से १८ वर्गणाओं का जीव से कुछ सम्बन्ध नहीं है और ५ वर्गणाओं को जीव ग्रहण करता है। उनके नाम आहार-वर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा हैं। आहारवर्गणा से औदारिक, वैक्रियिक और आहारक ये तीन शरीर और श्वासोच्छवास बनते हैं। तैजसवर्गणा से तैजस शरीर बनता है। भाषावर्गणा से शब्द बनते हैं मनोवर्गणा से द्रव्यमन बनता है, जिसके द्वारा यह जीव हित-अहित का विचार करता है और कार्मणवर्गणा से ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्म बनते हैं। जिन कर्मों के निमित्त से यह जीव चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के दुःख उठाता है और जिनके क्षय होने से यह जीव संसार से छूटकर मोक्षपद को पाता है। इन ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों के पिंड को ही कार्मण शरीर कहते हैं। इस प्रकार इस जीव के औदारिक (मनुष्य तिर्यंचों का शरीर) वैक्रियिक (देव-नारकियों का शरीर) आहारक, तैजस (मृतक और जीवित शरीर में जो कांति का भेद है वह तैजस शरीरकृत है। मृत्यु होने पर तैजस शरीर जीव के साथ चला जाता है।) और कार्मण ये ५ शरीर हैं। इनमें से कार्मण शरीर को कर्म और शेष शरीरों को नोकर्म कहते हैं। जीव और कर्मों के बन्ध को कर्मबन्ध कहते हैं, तथा जीव और अन्य शरीरों के बन्ध को नोकर्मबन्ध कहते हैं। भवांतर में जानेवाला जीव पूर्व शरीर को छोड़ने के बाद, जब तक नया शरीर ग्रहण नहीं करता है, तब तक के अन्तराल में उसके तैजस और कार्मण ये दो सूक्ष्म शरीर साथ में रहते हैं। इस अन्तराल का काल जैनागम में बहुत ही थोड़ा तीन समय मात्र अधिक से अधिक बताया है। अन्तराल में यह कार्मण शरीर ही उसे किसी नियत स्थान पर ले जाकर नया शरीर ग्रहण कराता है। उक्त तैजस और कार्मण शरीर संसार दशा में सदा इस जीव के साथ रहते हैं। जब यह जीव भवांतर में जाकर नया शरीर ग्रहण करता है, तब सदा साथ रहनेवाले दो शरीर और एक नया प्राप्त शरीर इस प्रकार जीव के कुल तीन शरीर हो जाते हैं। जिस प्रकार दूध में जल, मिश्री आदि घुल मिल जाते हैं, उसी प्रकार इन तीनों शरीरों को आत्मा के साथ मिश्रण हो जाता है। सदा साथ रहनेवाले तैजस और कार्मण ये दो शरीर इतने मूक्ष्म हैं कि वे हमारे कभी इन्द्रियगोचर नहीं हो सकते हैं।

प्रश्न-'अनन्तगुणे परे' इस सूत्र के द्वारा सूत्रकार उमास्वामी ने औदारिकादि शरीरों से कार्मण शरीर के परमाणु अनन्तगुणे अधिक लिखे हैं। इससे तो कार्मण शरीर अन्य सब शरीरों से बड़ा होना चाहिये।

उत्तर- उन्हीं आचार्य उमास्वामी ने 'परं परं सूक्ष्मम्' इस सूत्र द्वारा कार्मण शरीर को अन्य सब शरीरों से सूक्ष्म भी लिखा है। इस प्रकार आचार्यश्री ने दोनों कथन करके यह अभिप्राय प्रकट किया है कि कार्मण शरीर का गठन ऐसा ठोस है कि उसकी प्रदेश संख्या अन्य शरीरों से अनन्तगुणी होते हुए भी वह अन्य शरीरों जैसा स्थूल नहीं है, जैसे रुई का ढेर और लोहे का गोला। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कार्मण शरीर जब इतना ठोस है तो उसकी गति अन्य पौद्‌गलिक पदार्थों से रुक जाती होगी? उसकी बनावट ही कुछ ऐसी जाति के परमाणुओं से होती है, जिससे वह वज्रपटलादि में भी प्रवेश कर जाता है। जैसे अग्नि लोहे में प्रवेश कर जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन सभी शरीरों में से एक कार्मण शरीर ही ऐसा है, जिसके सहयोग से यह जीव अनेक योनियों में जन्म ले-लेकर नाना प्रकार की चेष्टायें करता रहता है। यही वह कर्म पिण्ड है, जो इस जीव के लिए संसार का बीजभूत है और विविध अनर्थ परम्पराओं का कारण बना हुआ है। जैसे रेशम का कीट अपने ही मुँह से रेशम के तार निकाल-निकाल कर आप ही उनसे लिपटता रहता है, इसी तरह यह जीव स्वयं ही राग-द्वेषादि कलुषित भाव कर-करके आप ही इन दुखदायी कर्मों से बँधता रहता है। कर्मों का बंध इस जीव के किस तरह हो जाता है। इसके लिये शास्त्र वाक्य ऐसा है-

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमंतेऽत्र पुद्‌गलाः कर्मभावेन॥

अर्थ- जीव के किये हुए परिणामों को निमित्त बना कर पुद्‌गल की वर्गणायें स्वयं ही कर्मरूप से परिणम जाती हैं।

(शेष अगले अंक में)

'जैन निबन्धरत्नावली' (भाग २) से साभार

भाग्योदयतीर्थ प्राकृतिक चिकित्सालय सागर (म०प्र०) द्वारा अमरकंटक में राष्ट्रीय सेमिनार का आयोजन, दिनांक २ एवं ३ अक्टूबर २००९

परम पूज्य १०८ आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज का संसघ चातुर्मास अमरकंटक जिला अनूपपुर म० प्र० में हो रहा है। भाग्योदय तीर्थ धर्मार्थ ट्रस्ट, सागर म० प्र० में १६ एकड़ की जमीन पर आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के आशीर्वाद से संचालित है। उसमें २०० बिस्तरों का ऐलोपैथी, ५० बिस्तरों का नेचरोपैथी एवं आयुर्वेदिक रसशाला संचालित है। सर्वसाधनों से युक्त है। प्राकृतिक चिकित्सालय की ओर से इस वर्ष २ एवं ३ अक्टूबर को अमरकंटक में आचार्य श्री के मंगल सान्निध्य में एक राष्ट्रीय सेमीनार का आयोजन किया जा रहा है। सेमीनार का विषय है- **डायबिटीज, मोटापा एवं हाई ब्लडप्रेशर का इलाज, योग, आहार एवं प्राकृतिक चिकित्सा के माध्यम से।**

शिविर में मुख्य अतिथि डॉ० चिदानंद मूर्ति- निर्देशक, केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद्, दिल्ली, कार्यक्रम-अध्यक्ष श्री रावलमल मणि, चेयरपर्सन, महावीर नेचरोपैथी एवं यौगिक साइंस, नगपुरा, छत्तीसगढ़, विशिष्ट अतिथि-डॉ० साधना दौनेरिया, योग विभागाध्यक्ष, बरकतउल्ला वि० वि० भोपाल होंगी। शिविर के प्रायोजक केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद्, दिल्ली है। शिविर में डायबिटीज, मोटापा एवं हाई ब्लडप्रेशर का इलाज जो योग, आहार एवं प्राकृतिक चिकित्सा (रजिस्टर्ड डॉक्टर-ऐलोपैथी, आयुर्वेदिक, प्राकृतिक, होम्योपैथिक एवं यूनानी चिकित्सक) के माध्यम से करते हैं, वे शिविर में अपना पेपर प्रस्तुत करने के लिए आमंत्रित हैं। जिन्होंने उपर्युक्त बीमारियों पर रिसर्च वर्क किया है वे भी सादर आमंत्रित है। ऐसे वक्ताओं को आने-जाने का यात्राव्यय एवं आवास व्यवस्था निःशुल्क की जायेगी। कृपया शीघ्र ही हमारे मो० नं०- ०९४२५१-७१६७१ पर सूचित करें, ताकि आपके ठहरने और भोजन संबंधी व्यवस्था की जा सके। फोन पर चर्चा के उपरान्त आप अपने यात्रा का टिकट (सेकेण्ड क्लास स्लीपर) रिर्जव करा लेवें। आपके अमरकंटक आगमन पर आपको भुगतान कर दिया जावेगा।

शिविर का मुख्य आकर्षण होगा परम पूज्य गुरुवर आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज और उनका संघ, क्योंकि जिन्होंने प्राकृतिक जीवन जिया है, जो दिन में मात्र एक बार आहारचर्या करते हैं, उनकी उपस्थिति में इस सेमीनार में वक्ताओं के द्वारा अपना अनुभव सुनाया जायेगा एवं प्रतिदिन आचार्यश्री जी के मांगलिक प्रवचन इन बीमारियों एवं आहार और योग चिकित्सा पर मिलेंगे।

समस्त धर्मप्रेमी बन्धुओं और इन बीमारियों से पीड़ित व्यक्तियों से भाग्योदय तीर्थ परिवार २ एवं ३ अक्टूबर २००९ को अमरकंटक पहुँचने की अपील करता है। अधिक से अधिक संख्या में शामिल होवें।

डॉ० रेखा जैन
मुख्य चिकित्सा प्रभारी, सागर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निमित्त और उपादान

पं० नाथूराम डोंगरीय, इन्दौर

जैनदर्शन में किसी भी कार्य की उत्पत्ति में निमित्त और उपादान इन दो कारणों को मुख्यता से स्वीकार किया गया है। इनमें उपादान कारण वह कहलाता है, जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है और कार्य के होने में जो सहायक हो जाता या बन जाता है, अथवा बनाया है, वह निमित्तकारण कहलाता है। जैसे अग्नि के संयोग से पानी गर्म हुआ, तो पानी की गर्मरूप परिणति में अग्नि के सहकारी कारण होने से उसे निमित्त कहा जायेगा और पानी स्वयं गर्म हुआ है इसलिए उसे उपादान कारण। इस विषय में स्वामी समन्तभद्र ने जो नियम घोषित किया है, वह ध्यान देने योग्य है। वे बृहत्स्वयंभूस्तोत्र में लिखते हैं-

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं
कार्येषु ते द्रव्यगतस्वभावः।
नैवान्यथा कार्यविधिश्च पुंसां
तेनाभिवन्द्यस्त्वं ऋषिर्बुधानाम्॥ ६०॥

अर्थात् हे भगवन्! कार्यों के सम्पन्न होने में अंतरग और बहिरंग उभय उपाधियों (कारणों) की समग्रता (पूर्णता) का होना द्रव्यगत स्वभाव है- ऐसा नियम आपने स्वीकार किया है। क्योंकि अंतरंग (उपादान) और बाह्य निमित्त की पूर्णता होने पर ही कोई नवीन कार्य सम्पन्न होता है और देखा भी ऐसा ही जाता है कि अग्नि या सूर्य अथवा बिजली आदि किसी उष्ण वस्तु के अभाव में पानी गर्म नहीं होता। ऐसा क्यों होता है? स्वामी समन्तभद्र कहते हैं ऐसा द्रव्यगत स्वभाव है और **'स्वभावोऽतर्कगोचरः'** स्वभाव में तर्क का प्रवेश नहीं है। यतः केवल एक ही कारण, निमित्त या उपादान मात्र से कार्य की उत्पत्ति होती नहीं देखी जाती, अतः एक ही कारण से कार्य की उत्पत्ति न मान, उभय कारणों से ही कार्य का होना स्वीकार करने योग्य है। हे भगवन्! बुद्धिमानों द्वारा आप इसीलिए भी वन्द्य हैं, कि मुक्ति प्राप्त करने में आपका उपदेश या दर्शन ही सर्वप्रथम मुमुक्षु को देशनालब्धि स्वरूप निमित्त के रूप में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अनिवार्यतः सहायक होता है।

तात्पर्य यह कि सभी कार्यों में निमित्त और उपादान दोनों कारणों की समग्रता का होना सुनिश्चित है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि अनेक बार बहुत लोग भगवान् की वाणी सुनते हैं, किन्तु सभी को सम्यग्दर्शन क्यों नहीं हो जाता। समाधान यह है कि भगवान् की वाणी सुनने पर भी जिन्हें सम्यग्दर्शन नहीं हुआ वे समर्थ (उपादान) नहीं थे अर्थात् उनको दर्शनमोह का क्षयोपशम नहीं हुआ था और न विशुद्धिलब्धि (परिणामों में कषायों की मन्दताजन्य विशुद्धि) ही प्राप्त हुई थी और न भव्यत्व भाव का विपाक ही हुआ था। साथ ही उन्हें कारणलब्धि भी प्राप्त नहीं थी, जिसके बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। अतः समर्थ उपादान कारण के रूप में उन लोगों में योग्यता का अभाव होने से, दूसरे शब्दों में उनके उपादान कारण न बन सकने से, सम्यग्दर्शन रूप कार्य की उत्पत्ति न हो सकी।

एक कार्य के होने में अनेक कारण हुआ करते हैं, जिनमें उपर्युक्त अंतरंग कारण व काललब्धि का होना भी एक निमित्त है। केवल बाह्य निमित्त से ही कार्य नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि कोई निमित्त या उपादान कारण तभी माना जाता और कहा जाता है या कहा जाना चाहिए, जब कार्य सम्पन्न हो जाय। कार्य के उत्पन्न हो जाने पर ही यह देखा जाना चाहिए कि इसमें कौन निमित्त था और कौन उपादान। कार्य के हुए बिना न कोई उपादान कहलाता है और न निमित्त। सभी वस्तुएँ पूर्ण स्वतंत्र सत्ता सम्पन्न अपने अपने ध्रुव स्वभाव में स्थित हैं, किन्तु वे सभी परिवर्तनशील भी हैं। अतः उनमें परिवर्तन या पर्यायरूप कार्य जब जैसा जहाँ होता हुआ दिखाई देता है, वहाँ उस कार्य या परिवर्तन के होने में वे स्वयं उपादान कहलाती हैं और जिन अन्य द्रव्यों से वे स्वतः या परतः प्रभावित होती हैं या अन्य द्रव्य उन (कार्यों) में सहायक होते या माने जाते हैं वे निमित्त कहलाते हैं। जिनका आलंबन लेने से कार्य सिद्ध होते हैं, वे भी निमित्त की संज्ञा को प्राप्त होते हैं। जैसे किसी ग्रंथ के पठन में आँखों को चश्मे का आलंबन होना। यहाँ यद्यपि आँखों में देखने की शक्ति है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति चश्मे के द्वारा हुई दिखाई देती है अतः चश्मा भी पढ़ने में निमित्त बन गया। चश्मे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के सिवाय प्रकाश भी निमित्त होता है।

साधारणत: कारणों का कार्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रहा करता है। जिनका कार्य के साथ अविनाभाव संबंध हो अर्थात् जिन के बिना कार्य न हो, वे ही वास्तव में उस कार्य के कारण माने और कहे जा सकते हैं और जिनके बिना भी कार्य हो जाय वे उसके कार्य के कारण नहीं माने जा सकते। तथा जिनके होने पर भी कार्य न हो, वे भी कारण नहीं माने जाते। जैसे सुनार ने सोने का कड़ा बनाया, तो सुनार ही कड़े में निमित्त कहा जावेगा सुनारन या अन्य व्यक्ति नहीं।

पदार्थों में जो कार्य रूप स्वयं परिणत होता है उसे उपादान और बाह्य सहायक पदार्थ को निमित्त की संज्ञा प्रदान करना यह एक व्यवहार है। तथा जो उपादान है वह दूसरे के कार्य में सहायक बन कर उसी समय निमित्त भी कहला सकता है और जो निमित्त है वह अपने में जो नवीन पर्याय उत्पन्न हो रही है उसी समय उसका उपादान भी है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक पदार्थ एक ही समय में उपादान भी है और निमित्त भी है। जैसे मिट्टी से कुम्हार ने जब घड़ा बनाया, उस समय मिट्टी घड़े का उपादान और कुम्हार निमित्त कहलाता है। किन्तु जिस मिट्टी को देखकर कुम्हार के मन में घड़ा बनाने के भाव रूप परिणति हुई, उसमें वही मिट्टी कुम्हार के घड़ा बनाने रूप भावों की उत्पत्ति में निमित्त भी स्वयमेव कहलावेगी तथा वह कुम्हार उन भावों का उपादान।

इस प्रकार मिट्टी और कुम्हार दोनों ही एक समय में परस्पर निमित्त और उपादान संज्ञा-व्यवहार को प्राप्त हैं। न सदा सर्वथा कोई पदार्थ केवल किसी कार्य का निमित्त ही बना रहता है और न उपादान। अपने अपने कार्यों को स्वयं में निष्पन्न करते हुए सभी पदार्थ उपादान संज्ञा को प्राप्त हैं और दूसरे पदार्थों के कार्य में सहायक बनकर या होकर वे ही निमित्त भी कहलाने लगते हैं। इस प्रकार एक ही समय में जब पदार्थ कथंचित् उपादान और कथंचित् निमित्त भी सिद्ध हो रहा है, तब उसके सम्बन्ध में सर्वथा उसे निमित्त या उपादान मानने का आग्रह करना भी आर्हत मत के अनेकांत के विरुद्ध ही कहलावेगा।

इसके सिवाय केवल उपादान से या केवल निमित्त से ही कार्य की उत्पत्ति मानना भी कोरा भ्रम है। जब कि न केवल मिट्टी रूप उपादान के बिना घड़ा बनता और न कुम्हार या अन्य जन के योग और उपयोग के बिना। इस सम्बन्ध में केवल निमित्त या केवल उपादान को ही कारण मानने से विवाद होता है और जब तक दोनों कारणों में से एक का आग्रह किया जाता रहेगा, तब तक विवाद भी होता ही रहेगा जो सर्वथा अनावश्यक है और लक्ष्य के अनुकूल भी प्रतीत नहीं होता। यदि कुम्हार के योग और उपयोग के बिना ही घड़ा बन जाता, तब ही केवल उपादान से कार्य की उत्पत्ति मानते हुए कुम्हार को सर्वथा अकिंचित्कर मानना न्यायसंगत होता। अथवा बिना मिट्टी के ही कुम्हार घड़ा बना देता, तो घड़े का उपादान मिट्टी को मानना भी अकिंचित्कर होता। किन्तु दोनों पक्षों के मानने में प्रत्यक्ष से ही बाधा आती है और वैसा होना संभव भी नहीं है, अत: यथायोग्य निमित्त और उपादान दोनों को कारण मानना न्यायसंगत सिद्ध होता है।

निमित्त स्वयं भी मिलते हैं और बुद्धिपूर्वक मिलाये भी जाते हैं, किन्तु वे सभी तभी निमित्त कहलावेंगे, जब वे इष्ट कार्य के होने में सहायक सिद्ध होंगे। यदि वे इष्ट कार्य में सहायक नहीं हुए, तो वे कार्य के निमित्त नहीं माने जावेंगे, प्रत्युत यदि वे इष्ट कार्य के सम्पन्न होने में बाधक बने, तो वे फिर बाधा में निमित्त कहे जावेंगे। जैसे कोई व्यक्ति धनार्जन हेतु परदेश जा रहा था और मार्ग में रात्रि हो जाने से वन में किसी वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा। उसी वृक्ष के पृष्ठ भाग में एक वीतराग साधु तपस्या कर रहे थे। प्रात: उनके दर्शन करने तथा धर्मोपदेश श्रवण करने से पथिक का सांसारिक मोह भंग हो गया और वह मुनि बन गया तथा फिर तपस्या कर मुक्ति को प्राप्त हुआ। इस में आत्मकल्याण करने का उसे निमित्त नहीं मिलाना पड़ा, स्वयं अकस्मात् ही मिल गया।

रही निमित्त मिलाने की बात, सो हम अपने कार्यों को सम्पन्न करने हेतु प्रतिदिन और प्रतिक्षण ही निमित्त मिलाने में प्रयत्नशील रहा करते हैं, आत्मकल्याण और शांतिप्राप्ति हेतु घर से देवदर्शन-पूजन-उपासना हेतु जिनमंदिर जाते हैं, ज्ञानार्जन हेतु गुरुजनों की सेवा करते हैं, धनार्जन हेतु व्यापार या दूसरों की सेवा करते हैं, निवास हेतु गृहनिर्माण करते हैं, आखिर कुछ न कुछ किया ही करते हैं। यह अपनी-अपनी कार्यसिद्धि हेतु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निमित्त मिलाने की बातें हैं। किन्तु यदि देवदर्शन या उपासना करने से शांति मिलती है या सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, तब ही देवदर्शन शांति या सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में निमित्त कहलावेगा, परन्तु हमें अपनी कमजोरी के कारण यह ज्ञात नहीं है कि देवदर्शन कब सम्यग्दर्शन का निमित्त बनेगा, इसलिये हम सतत देवदर्शनादि क्रियाओं को रुचिपूर्वक करते रहने में प्रयत्नशील रहा करते हैं और रहना भी चाहिए।

नयों की दृष्टि से विचार करने पर

'स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः' अर्थात् निश्चय स्वद्रव्य के अश्रित और व्यवहार परद्रव्य के आश्रित होता है, इस नियम के अनुसार निश्चयनय की दृष्टि से जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणत होता है, जिसमें उसकी परिणमनशीलता कारण है वह उपादान कारण है तथा परद्रव्य जो उसकी परिणति में सहकारी होता या दिखाई देता है वह निमित्त कहलाता है। किन्तु निमित्त कारण तो कहलाता है, पर वह कार्य का कर्त्ता नहीं होता क्योंकि जो द्रव्य कार्यरूप परिणमन कर रहा है निश्चय से उस परिणमन का वही कर्त्ता है। निमित्त को उसका कर्त्ता मानना केवल आरोपित व्यवहार है, जैसे कुम्हार को घट का कर्त्ता मानना। कुम्हार घट के बनने में केवल निमित्त ही है। यदि कुम्हार स्वयं मिट्टी के बिना घट बन जाता, तो ही वह घट का कर्त्ता कहा जा सकता है। पर ऐसा होना संभव नहीं है। जब कुम्हार घट बनाने में अपना योग और उपयोग लगा रहा हो, तब वह स्वयं के योग और उपयोग रूप परिणति का ही कर्त्ता निश्चय से होता है।

इस प्रकार कार्य की उत्पत्ति में उपादान और निमित्त का व्यवहार होता है, किन्तु निमित्त और उपादान की स्थिति और क्षमता अपनी मर्यादा को लिये हुए है। इस विषय में केवल निमित्त या उपादान का पक्ष लेकर विवाद करना न तो उचित है और न उससे काम ही हो सकता है। जिस दृष्टि से जो है, उसको उसी रूप और सीमा में जानने और मानने से ही सम्यग्ज्ञान हो सकता है। अपनी संकुचित दृष्टि रखकर केवल पक्षपात करते हुए विवाद करने से कुछ भी होनेवाला नहीं है।

यहाँ व्यवहार में यह देखने में आता है कि हम जब किसी के कार्य में सहायक बन जाते हैं, तब हम उस कार्य के कर्त्ता होने का भ्रम पालने लगते हैं कि 'मैंने उसका यह कार्य किया।' यह कर्तृत्व का भ्रम अनादि से हमें पर-वस्तुओं और उनकी परिणतियों का कर्त्ता-धर्त्ता मानने के कारण संसार-परिभ्रमण का कारण बना हुआ है। जब कि हम पर-वस्तुओं के परिणमन में यदि सहायक हों, तो केवल निमित्त ही हो सकते हैं, उसके कर्त्ता नहीं। अपने अपने परिणमनस्वभाव के कारण सभी वस्तुएँ स्वयं ही परिणमन करती रहती हैं, उनमें निमित्त केवल सहायक होता है, इस विषय में स्वामी अमृतचन्द्राचार्य का कथन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। वे लिखते हैं-

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥ १२॥
परिणममानस्य चितः चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥ १३॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात् जीव के रागादि भावों का मात्र निमित्त पाकर पुद्गल के परमाणु स्वयं ही कर्मरूप परिणमन करते हैं और आत्मा अपने चैतन्यमयी भावों से (राग-द्वेषादि रूप) परिणमन करता है, तब उदयागत कर्मपरमाणु उसमें निमित्त मात्र होते हैं।

इन कारिकाओं में निमित्त को उसकी कारणता से नकारा नहीं गया है। पूर्वबद्ध कर्मोदय का निमित्त पाकर ही संसारी जीव में रागद्वेषादि विकारी भाव उत्पन्न होते हैं और कर्मोदय के अभाव में मुक्तजीव में विकारी भाव नहीं होते। इसी प्रकार जीव के रागादि विकारी भावों का निमित्त पाकर पुद्गल के परमाणु कर्मभाव को प्राप्त होते हैं, बिना विकारी भावों के कर्म नहीं बँधते। इससे दोनों में परस्पर अविनाभाव सिद्ध हो जाता है जिससे वे एक दूसरे के परिणमन में निमित्त कारण कहलाते हैं, किन्तु जब तक कार्य न होगा तब तक उनमें परस्पर निमित्त कारणता नहीं मानी जावेगी और न उपादान ही।

इस प्रकार संक्षेप में निमित्त और उपादान की स्थिति है, जिसके संबंध में विवाद करना अनावश्यक और अनुचित है।

वात्सल्य रत्नाकर (द्वितीय खण्ड) से साभार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनभाषित (जनवरी २००९) के सम्पादकीय 'वास्तुशास्त्र और कर्मसिद्धान्त' का समीक्षात्मक अध्ययन

पं० सनतकुमार विनोदकुमार जैन

माननीय पं० सनतकुमार विनोदकुमार जी जैन का 'गृहचैत्यालय : स्वरूप एवं सावधानियाँ' शीर्षक से एक लेख जनवरी २००९ के जिनभाषित में प्रकाशित किया गया था और उसे आधार बनाकर मैंने अपना सम्पादकीय लेख 'कर्मसिद्धान्त और वास्तुशास्त्र' भी उक्त अंक में लिखा था, जिसमें यह सिद्ध करनेवाले अनेक आगमप्रमाण प्रस्तुत किये थे कि आज के जैनवास्तुशास्त्री वास्तुशास्त्र के प्रतिकूल एवं अनुकूल गृहों में निवास के जो अपमृत्यु-अनपमृत्यु, कुलक्षय-कुलरक्षा, धनक्षय-धनरक्षा आदि हानि-लाभ बतलाते हैं, वे जिनोपदिष्ट नहीं हैं।

उक्त प्रतिष्ठाचार्यद्वय ने अपने मत के समर्थन में आगमप्रमाण प्रस्तुत करने का दावा करते हुए उपर्युक्त शीर्षकवाला एक लेख पुन: भेजा है। उनके लेख को प्रकाशित करना आवश्यक है, क्योंकि पाठकों को यह पता चलेगा कि जैनवास्तुविदों के पास वास्तुशास्त्रसम्बन्धी उपर्युक्त हानिलाभों को सत्य सिद्ध करनेवाले जिनोपदिष्ट प्रमाण क्या हैं? लेख लम्बा है, इसलिए मैं लेख से चुनकर केवल वे ही उक्तियाँ उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत कर रहा हूँ, जो मूलभूत हैं और विचारणीय हैं। साथ ही उन पर सम्पादकीय टिप्पणी देकर वस्तुस्थिति का भी प्रदर्शन कर रहा हूँ। इसके अतिरिक्त 'जैनगजट' के प्रख्यात पूर्व सम्पादक, अन्त:राष्ट्रीय-ख्यातिप्राप्त, जानेमाने विद्वान् प्राचार्य पं० नरेन्द्रप्रकाश जी जैन का भी एक लेख प्रकाशित किया जा रहा है, जिससे यथार्थ के निर्णय में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

मैंने अपेक्षा की थी कि मेरे लेख के प्रत्युत्तर में अनेक जैन वास्तुशास्त्री दिगम्बरजैन आर्षगन्थों से वे उद्धरण प्रस्तुत करेंगे, जिनमें यह स्वीकार किया गया हो कि वास्तुशास्त्र के अनुकल और प्रतिकूल घर में रहने से उपर्युक्त इष्ट और अनिष्ट घटनाएँ घटित होती हैं। किन्तु अभी तक एक मात्र लेख उपर्युक्त प्रतिष्ठाचार्य-बन्धुओं का ही प्राप्त हुआ है। इसके लिए मैं उनका धन्यवाद करता हूँ।

सम्पादक : रतनचन्द्र जैन

१. वर्तमान में जैनाचार्य-प्रणीत स्वतन्त्र वास्तुशास्त्र भले उपलब्ध न हो, किन्तु जैनागम के अनेक ग्रन्थों में वास्तुशास्त्र का वर्णन प्राप्त होता है। यथा-

"**थलगया णाम तेत्तिएहि चेव पदेहि २०९८९२०० भूमिगमणकारणमंतमंत-तवच्छरणाणि वत्थुविज्जं भूमि-संबंधमण्णंपि सुहासुहकारणं वण्णेदि।**" (धवला/पुस्तक १/पृष्ठ ११४)।

वास्तुविद्या का वर्णन दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के पाँचवे अधिकार 'चूलिका' के २०९८९२०० पदों में किया है।

विश्वकर्ममतं चास्मै वास्तुविद्यामुपादिशत्।
अध्यायविस्तरस्तत्र बहुभेदोऽवधारित:॥ २२॥

(आदिपुराण भाग १, अध्याय १६)

अर्थात् अनंतविजय पुत्र के लिए उन्होंने (भगवान् ऋषभदेव ने) सूत्रधार की विद्या तथा मकान बनाने की विद्या का उपदेश दिया। इस विद्या के प्रतिपादक शास्त्रों में अनेक अध्यायों का विस्तार था, तथा उसके अनेक भेद थे।

तिलोयपण्णत्ती में ९७८ से ९८१ गाथा तक एवं प्रतिष्ठापाठ (आचार्य जयसेन प्रणीत) में १३५-१३६ श्लोकों में वास्तुविद्या-निर्देशित अनेक विद्याओं का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार जैनागम के अनेक ग्रन्थों में वास्तुविद्या का वर्णन सरलता से प्राप्त हो रहा है। फिर इसे 'जिनभाषित नहीं है' कहना कहाँ तक उचित है? इन ग्रन्थों के लेखक कौन आचार्य प्रामाणिक हैं एवं कौन अप्रामाणिक, इसका निर्णय हम नहीं कर सकते। यदि भट्टारक लेखक हैं, तो उनके चरित्र पर भले ही अँगुली उठा लें, किन्तु उनके ज्ञान को रेखांकित नहीं किया जा सकता है।

२. कर्म भी परद्रव्य हैं, वे सुख-दु:ख के कर्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकते हैं, तो वास्तु क्यों नहीं?

३. जिस प्रकार कर्म (द्रव्यकर्म) सुख-दुःख में कारण हैं, उसी प्रकार वास्तुशास्त्रानुकूल-प्रतिकूल गृह (नोकर्म) भी सुख-दुःख में कारण है। इस प्रकार के सन्दर्भ जैनागम में अनेक जगह उपलब्ध हैं।

४. वास्तुशास्त्रानुकूल-प्रतिकूल गृह सुख-दुःख दोनों में कारण (निमित्त) हैं, यह तथ्य प्रत्यक्ष एवं आगम प्रमाण दोनों से सिद्ध है।

आगम प्रमाण

जैनन्यायशास्त्र चिल्ला कर कह रहे हैं कि- "**सामग्रीजनिकानैककारण**" (प्रमेयकमल-मार्तण्ड) मात्र एक कारण से कार्य नहीं होता है।

कर्मोदय भी द्रव्य क्षेत्र आदि के निमित्त से होता है-

"**खेत्तभवकालपोग्गलट्ठिदिविवागोदय-खयदु।**" (कषायपाहुडसुत्त गाथा ५९)।

"**कालभवखेत्तपेही उदओ**" --- (पंचसंग्रह-प्राकृत / ४ / ५ / ३, भगवती-आराधना / वि० / १७०८)।

क्षेत्र, काल, भव, और पुद्गल का निमित्त पाकर कर्मों का उदय होता है। क्षेत्र, काल, भव आदि नोकर्मों का सद्भाव कर्मोदय को प्रभावित करता है। तब वास्तु शास्त्रानुकूल-प्रतिकूल गृह निवासी को भी प्रभावित करते हैं। कर्मोदय में यह गृह भी निमित्त बनते हैं। हम हमेशा अशुभ निमित्त हटाते हैं और शुभ निमित्ति को जुटाते हैं। अशुभ वास्तु कर्मोदय में अशुभ निमित्त बनते हैं। राजवार्तिक / अध्याय ८/ सूत्र ३ में श्री भट्टाकलंक देव ने कहा है-

"**कारणानुरूपं हि कार्यमिति।**" अर्थात् कारण के अनुरूप ही कार्य होता है।

"---वास्तुशास्त्रानुकूल गृहों का निर्माण कर उनमें रहनेवालों के मन को विशुद्ध बनाने में साधक बनाया जा सकता है।"

"---क्षेत्र के निमित्त से नरकों में परपीड़ा पहुँचाने के विचार होते रहते हैं। तीर्थस्थान, मंदिर, बाजार, नाटकगृह इत्यादि में शुभ-अशुभ भाव होते रहते हैं। (कौन्देयकौमुदी / पृ.९५) अर्थात् प्रतिकूल गृहों में भी शुभभाव नहीं हो पाते, निरन्तर, कलह, विवाद, विषाद, आदि के परिणाम होते हैं, जो कर्मों के संक्रमण के कारण बनते हैं। इससे गृहों का निर्माण वास्तुशास्त्रानुकूल होना चाहिए। जो मंदिर वास्तुशास्त्रानुकूल नहीं बने होते हैं, उनमें पूजादि करने पर मन स्थिर नहीं हो पाता, पदाधिकारी कलह करते रहते हैं।

प्रत्यक्षप्रमाण

वास्तुशास्त्रप्रतिकूल मंदिर-गृह आदि प्राणनाश, धनक्षय, आयुक्षय में कारण होते हैं। इसके अनेक प्रत्यक्षप्रमाण प्राप्त होते हैं। श्री शान्तिलाल जी बैनाड़ा आगरा, जो वयोवृद्ध और अनुभववृद्ध हैं, उन्होंने अपने सामने घटित कुछ प्रसंगों को प्रेषित किया है। यथा-

क- आगरा नाई की मंडी कटरा इतवारीखाँ में श्री पारसदास ने गृह चैत्यालय में प्रतिकूल मूर्तियाँ स्थापित कर लीं। कुछ समय बाद ऐसी मुसीबत आयी कि भरपेट रोटी नहीं मिली और थोड़े समय में आयुक्षय हो गया। वह चैत्यालय सामाजिक चैत्यालय में स्थापित कर दिया गया, परिणामतः पूरी समाज मुसीबत में पड़ गई।

ख- फिरोजाबाद के सेठ छदामीलाल जी ने दक्षिण भारत से लाकर एक प्रतिमा वास्तुशास्त्र के प्रतिकूल स्थापित करवा ली, जिससे कुछ समय में धनक्षय, वैभवक्षय एवं अन्त में निंदनीय तरीके से आयुक्षय भी हो गया।

ग- आगरा बेलनगंज की बारोलिया-बिल्डिंग की दूसरी मंजिल में एक मंदिर स्थापित किया गया, जिसमें वास्तुशास्त्र के प्रतिकूल ढाई फुट अवगाहना की मूर्ति स्थापित की गई। परिणाम हुआ कि परिवार किसी भी प्रकार से सुखी नहीं है।

घ- ग्वालियर दानाओली चम्पाबाग में एक प्राचीन मंदिर है। इसमें प्रतिमाओं का उलटफेर करवा दिया गया। परिणाम यह हुआ कि पाँच-सात महीनों में ही अध्यक्ष श्री पारस जी गंगवाल की रेल से कटकर मृत्यु हो गई।

ङ- मालपुरा के पास एक गाँव में मंदिर वास्तुशास्त्रानुकूल नहीं है, प्रतिमायें भी उचित विराजमान नहीं हैं। वहाँ हम लोगों ने देखा समाज का एक मात्र घर है, सभी चले गये। इस प्रकार के अनेक अनुभूत प्रकरण हैं। वास्तुशास्त्र को सर्वथा नकारा नहीं जा सकता है।

५. साता-असातावेदनीय कर्म के उदय में गृह भी निमित्त है। यथा-

"**सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्रश्च---**" (पंचाध्यायी / पूर्वार्द्ध / ५८१)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् सातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होनेवाले घर, धन-धान्य, स्त्री-पुत्र आदि---।

साता-असाता वेदनीय कर्म के उदय में मात्र रुचिकर-अरुचिकर भोजन ही नहीं, अपितु गृह, धन-धान्य आदि अन्य कारण भी देखे जाते हैं। गृह, धन-धान्य, स्त्री, पुत्र आदि के प्रतिकूल या अप्राप्त होने पर व्यक्ति असाता का अनुभव करता है एवं इनकी प्राप्ति या अनुकूल होने पर साता का वेदन करता है।

६. गृह क्या, कोई भी वस्तु हमेशा समान फल नहीं दे सकती, क्योंकि सुख-दुःख में मात्र वास्तु-शास्त्रानुकूल गृह ही नहीं, किन्तु और भी अनेक कारण होते हैं। उनका भी प्रभाव समय-समय पर परिवर्तित होकर प्राप्त होता है। गृह उनमें एक कारण है। इसे भी शुभ बनाने का भाव रहता है। गृह वास्तुशास्त्रानुकूल होने पर अन्य कारण भी अनुकूल होने चाहिए।

७. वास्तुशास्त्रप्रतिकूल गृहों में कलह का योग बनता है, जिसमें रहनेवालों में कलह होती रहती है। कलह, धनक्षय का प्रमुख कारण है। वास्तुशास्त्र प्रतिकूल गृह असाताकर्म के उदय में निमित्त है, यह पहले ही सिद्ध हो चुका है।

८. वास्तुशास्त्र प्रतिकूल घर भी भय, संक्लेश एवं वेदना का कारण होता है, जिससे मृत्यु हो सकती है। अकालमरण के अन्तरकारणों में वास्तुशास्त्र-प्रतिकूल गृह भी कारण है। वज्रजंघ और उनकी पत्नी श्रीमती का अकालमरण गृह के झरोखों के द्वार बंद होने से हुआ-

"**तत्रवातायनद्वारपिधानारुद्धधूमके** ---- ।"
(आदिपुराण भाग १ / सर्ग ९ / श्लोक २६)

अर्थात् उस दिन सेवक लोग झरोखे के द्वार खोलना भूल गये थे, जिससे वह धूम उसी शयनागार में रुकता रहा। उस धूम से वे दोनों पति-पत्नी श्वासावरोध से मृत्यु को प्राप्त हो गये। मृत्यु श्वासा-वरोध से हुई, किन्तु मृत्यु एवं श्वासावरोध में कारण खिड़कियों का बंद होना अर्थात् वास्तुशास्त्रप्रतिकूल गृह कारण बना। इस तरह वास्तुशास्त्र प्रतिकूल गृह अकालमरण में कारण है।

९. वास्तुशास्त्रानुकूल शुभगृह में निवास करनेवाले के अशुभकर्म शुभरूप हो जाते हैं, एवं गृह को शुभरूप बनाने से अशुभकर्मों में भी परिवर्तन हो जायगा।--- जिस प्रकार निमित्त परिवर्तित कर कर्मोदय में परिवर्तन किया जा सकता है, उसी प्रकार वास्तुशास्त्रानुकूलगृह निर्माण कर अशुभकर्मोदय में भी परिवर्तन किया जा सकता है।

लेख की प्रतिक्रियाओं की समीक्षा

१. वास्तुविद्या से अनभिज्ञजनों के द्वारा वास्तु पर प्रतिक्रिया करना आश्चर्यजनक है। जैसे जैनागम के द्वादशांगों के उपलब्ध नहीं होने पर उनका अभाव भी नहीं माना जा सकता है, उसी प्रकार विद्यानुवादपूर्व उपलब्ध नहीं है, तो उसका अभाव भी नहीं माना जा सकता है। जहाँ वास्तु के नाम पर अजैनों से सलाह लेकर तोड़-फोड़ करके उनके अनुसार धन का अपव्यय करते हैं, वहीं यदि जैनवास्तुकार उन्हें संबल देकर, धर्म में स्थित रखते हुए मार्गदर्शन करें और धन प्राप्त करें, तो उस धन का अपव्यय नहीं माना जायेगा। इसमें वरिष्ठ विद्वानों का मार्गदर्शन एवं आशीर्वाद ही मिलना चाहिए, क्योंकि युग के साथ तो चलना ही पड़ेगा, नहीं तो हम प्रगति में पिछड़े रहेंगे। वास्तुशास्त्र भी जैनागम का अंश है। इस लेख के पूर्व में प्रमाण स्पष्ट हैं।

२. जैनवास्तुशास्त्री जैनागमानुसार यदि वास्तु-संबंधी जानकारी देकर धन प्राप्त करते हैं, तो लोगों की श्रद्धा अन्यमतियों की ओर नहीं जा पाती है और धन भी उनका गलत लोगों के पास नहीं पहुँच पाता है। इस कार्य से यदि जैनवास्तुशास्त्री धन कमाकर धनवान् बनता है, तो हमें साधर्मी की प्रगति के प्रति ईर्ष्यावान् नहीं, अपितु हर्षित, प्रसन्नचित्त होना चाहिए।

३. जिनभाषित जनवरी २००९ के अंक का संपादकीय 'वास्तुशास्त्र और कर्मसिद्धांत' पढ़ने के बाद प्राप्त प्रतिक्रियाओं में कुछ लिखित रूप में और कुछ दूरभाष पर प्राप्त हुई हैं। पं० श्री सुमेरचन्द्र जी भगत जी, पं० श्री रतनलाल बैनाड़ा, पं० निहालचन्द्र जी बीना आदि विद्वानों ने इस लेख को जैनागम-सम्मत नहीं माना, इनसे मेरी व्यक्तिगत चर्चा हुई है।

रजवाँस (सागर) म० प्र०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय टिप्पणी

मान्य पं० सनतकुमार विनोदकुमार जी ने उपर्युक्त लेख में षट्खण्डागम, धवलाटीका, कसायपाहुड, जयधवलाटीका, कुन्दकुन्द- साहित्य, समन्तभद्र-साहित्य, तिलोयपण्णत्ती, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धिटीका, तत्त्वार्थराजवार्तिकटीका एवं आदिपुराण आदि आर्ष ग्रन्थों से एक भी ऐसा उद्धरण प्रस्तुत नहीं किया, जिसमें वास्तु के नियमों का उल्लेख हो और कहा गया हो कि उन नियमों के अनुसार वास्तुनिर्माण न होने से उसके निवासियों की अपमृत्यु, कुलक्षय, धनक्षय आदि अनिष्ट होते हैं तथा उन नियमों के अनुसार निर्मित वास्तु में निवास करने से अपमृत्यु का अभाव एवं कुलवृद्धि, धनवृद्धि आदि इष्ट कार्य सम्पन्न होते हैं। धवलाटीका और आदिपुराण में वास्तुविद्या का नामोल्लेख मात्र है, उसके नियमों और उनके पालन-उल्लंघन से उत्पन्न सुपरिणामों-दुष्परिणामों की कोई चर्चा नहीं है। अत: वे इन ग्रन्थों से कोई प्रमाण दे भी नहीं सकते थे। भट्टारकों द्वारा कुन्दकुन्द के नाम से रचित कुन्दकुन्द-श्रावकाचार (१८-१९वीं शती ई० / उल्लास ८ / श्लोक ५८-९७) तथा उमास्वामी के नाम से रचित उमास्वामिश्रावकाचार (१६-१७ वीं शती ई० / श्लोक ११२-११३) में वास्तुशास्त्र का कुछ वर्णन किया गया है, किन्तु यह पूर्णत: अजैनशास्त्रों की नकल है। (देखिये, श्रावकाचारसंग्रह / भाग ३ / पृष्ठ १६२ एवं भाग ४ / पृष्ठ ७५-८१)।

कुन्दकुन्दश्रावकाचार की समीक्षा करते हुए सिद्धान्ताचार्य पं० हीरालाल जी शास्त्री लिखते हैं- "प्रस्तुत श्रावकाचार में (रचयिता ने) स्पष्ट शब्दों के द्वारा सर्व शास्त्रों के सार को निकालकर अपने ग्रन्थ निर्माण का उल्लेख किया है (मंगलाचरण / श्लोक ८)। उनके इस कथन का जब पूर्वरचित जैन ग्रन्थों से मिलान करते हैं, तब किसी भी पूर्व रचित जैन ग्रन्थ से सार लेकर ग्रन्थ का रचा जाना सिद्ध नहीं होता है, प्रत्युत अनेक जैनेतर ग्रन्थों का सार लेकर प्रस्तुत ग्रन्थ का रचा जाना ही सिद्ध होता है।" (श्रावकाचार संग्रह/ भाग ४ / ग्रन्थ और ग्रन्थकार-परिचय / पृष्ठ ५२ / जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर / ई० सन् २००३)।

पं० हीरालाल जी शास्त्री ने पादटिप्पणी में उद्धरण देकर स्पष्ट किया है कि कुन्दकुन्दश्रावकाचार का 'वास्तुशुद्धि-प्रकरण' श्वेताम्बर वास्तुशास्त्री परमजैन चन्द्राङ्गज ठक्कुर फेरु द्वारा रचित 'वास्तुसार-प्रकरण' (जो स्वयं अनेक श्वेताम्बर जैन एवं अजैन शास्त्रों पर आधारित है), श्वेताम्बरमुनि श्री मेघविजयगणि-विरचित 'वर्ष प्रबोध', हिन्दूग्रन्थ 'वाराहसंहिता' (कुन्दकुन्द श्रावकाचार / उल्लास ८ / श्लोक ८), 'विश्वकर्म प्रकाश', 'अग्निपुराण', 'समरांगण' आदि ग्रन्थों की नकल करके रचा गया है। इसीलिए इसमें (कुन्दकुन्दश्रावकाचार में) अरहन्त के अतिरिक्त महेश, सूर्य, वासुदेव, और ब्रह्मा के प्रति भी विनय दर्शाने के लिए कहा गया है। यथा-"अरहन्तदेव की ओर पीठ, महेश और सूर्य की ओर दृष्टि, वासुदेव की ओर वाम अंग तथा ब्रह्मा की ओर दक्षिण अंग नहीं करना चाहिए।" (उल्लास ८ / श्लोक ९३)।

उमास्वामी-श्रावकाचार के विषय में पं० हीरालाल जी शास्त्री ने लिखा है- "उमास्वामी के नाम पर किसी भट्टारक ने इस श्रावकाचार की रचना की है। --- इस श्रावकाचार में --- श्वेताम्बर-योगशास्त्र, 'विवेकविलास'--- के अनेक श्लोक ज्यों के त्यों अपनाये गये हैं और अनेक श्लोक शब्दपरिवर्तन के साथ रचे गये हैं। श्वेताम्बर योगशास्त्र के १५ खर-कर्मवाले श्लोक भी साधारण से शब्दपरिवर्तन के साथ ज्यों के त्यों दिये गये हैं।" (श्रावकाचार-संग्रह / भाग ४ / ग्रन्थ और ग्रन्थकारपरिचय / पृष्ठ ३८-३९)।

शास्त्री जी आगे लिखते हैं- "इस श्रावकाचार (श्लोक १३६-१३७) में २१ प्रकार के पूजन के वर्णन में आभूषणपूजन और वसनपूजन का भी उल्लेख किया गया है। यह स्पष्टत: श्वेताम्बरपरम्परा में प्रचलित मूर्तिपूजन का अनुकरण है, क्योंकि दिगम्बरपरम्परा में कभी भी वस्त्र और आभूषणों से पूजन करने का प्रचार नहीं रहा है।--- इस श्रावकाचार के श्लोक १०० से १०३ तक के ४ श्लोक श्वेताम्बरीय (ग्रन्थ) 'आचारदिनकर' से लिये गये ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। (इन श्लोकों में विभिन्न परिमाणवाले जिनबिम्ब को पूजने के शुभ-अशुभ फल का वर्णन है)। --- इन सब कारणों से यही सिद्ध होता है कि किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भट्टारक ने इधर-उधर के अनेकों श्लोकों को लेकर तथा बीच-बीच में कुछ स्वयं-रचित श्लोकों का समावेश करके (यह ग्रन्थ) रचा है।'' (श्रावकाचारसंग्रह / भाग ४ / ग्रन्थ और ग्रन्थकार परिचय / पृष्ठ ४०-४१)।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि उपर्युक्त श्रावकाचारों में जिस वास्तुशास्त्र का वर्णन है वह पूर्वरचित दिगम्बरजैन ग्रन्थों से गृहीत नहीं है, अपितु श्वेताम्बरजैन ग्रन्थों एवं अजैन ग्रन्थों से ग्रहण किया गया है। इस प्रकार चूँकि वास्तुनिर्माण के नियमों और उनके पालन-उल्लंघन से उत्पन्न सुपरिणामों-दुष्परिणामों की दिगम्बरजैन ग्रन्थों में कोई चर्चा नहीं हैं, अतः सिद्ध है कि उपर्युक्त प्रतिष्ठाचार्यों ने वास्तु के जिन नियमों की चर्चा की है और उनके अनुकूल या प्रतिकूल निर्मित भवन में रहने से जो लाभ और हानियाँ बतलायी हैं, वे सब अजैनशास्त्रों पर आधारित हैं। धवला एवं जयधवला टीकाओं में ज्योतिषशास्त्र, वास्तुशास्त्र आदि को परसमय अर्थात् अजैनशास्त्र कहा गया है। इसके प्रमाण मैंने जिनभाषित (जून, २००९) के सम्पादकीय लेख में दिये हैं।

कर्मोदय के निमित्त रूप में वास्तु का नाम ही नहीं

जैनकर्मसिद्धान्त में कहा गया है कि कर्मों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के निमित्त से होता है तथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड (गाथा ७२, ७६, ७७) में प्रत्येक कर्म के उदय के छोटे से छोटे निमित्तभूत द्रव्य का भी कथन किया गया है। जैसे, भैंस के दही, लहसुन, खली आदि के सेवन को निद्रादर्शनावरण के उदय का निमित्त, विचित्रवेशधारी (बहुरुपिया) आदि के दर्शन को हास्यकर्म के उदय का निमित्त, सिंह आदि भयानक वस्तुओं के दर्शन को भयकर्म के उदय का निमित्त, स्त्रीशरीर और पुरुषशरीर के दर्शन को पुरुषवेद एवं स्त्रीवेद के उदय का निमित्त, इष्ट-अनिष्ट (प्रिय-अप्रिय) अन्न-पान, वस्त्राभूषण आदि को साता-असातावेदनीय कर्मों के उदय का निमित्त बतलाया है। किन्तु जिस वास्तुशास्त्रानुकूल और वास्तुशास्त्रप्रतिकूल गृहवास को बड़े जोर-शोर से मनुष्य के सभी लौकिक सुख-दुःख, सम्पन्नता-विपन्नता, अपमृत्यु-अनपमृत्यु, धनक्षय-धनवृद्धि, कुलक्षय-कुलवृद्धि और पारिवारिक तथा सामाजिक शान्ति-अशान्ति का प्रबल और प्रमुख कारण आज बतलाया जा रहा है, जिस पर अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित किये जा रहे हैं, वास्तुदोषों के निवारण हेतु परामर्शदाता वास्तुविशेषज्ञों की बाढ़ आ रही है, उसका जैन-कर्मसिद्धान्त में नाम भी नहीं लिया गया है। उसे किसी भी कर्म के उदय का निमित्त या नोकर्म नहीं कहा गया है। इससे सिद्ध है कि वास्तुशास्त्र के अनुकुल या प्रतिकूल गृह में निवास किसी भी कर्म के उदय का निमित्त नहीं है।

कर्मोदयजनित कार्य का साधक द्रव्य ही कर्मोदय का निमित्त

कोई भी ऐसा-वैसा द्रव्य कर्मों के उदय का निमित्त नहीं होता, अपितु जिस द्रव्य में जिस कर्म के उदय से होनेवाले कार्य को सिद्ध करने का गुण होता है, वही उसके उदय का निमित्त होता है। जैसे पुरुष के पुंवेदकर्म के उदय-उदीरणा से जो मैथुन क्रिया होती है, उसे स्त्रीशरीर ही सिद्ध करता है, कोई चट्टान, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि नहीं, इसलिए स्त्रीशरीर ही पुरुषवेद के उदय का निमित्तभूत द्रव्य होता है। भयकर्म के उदय से जो भयोत्पत्तिरूप कार्य होता है, वह सिंह आदि भयानक द्रव्यों के सान्निध्य से ही सिद्ध होता है, अतः भयकर्म के उदय में सिंह आदि भयानक द्रव्य निमित्त होते हैं, गाय, भैंस, मयूर, हंस आदि द्रव्य नहीं। इसी प्रकार सातावेदनीय के उदय से इन्द्रियों और मन को जो सुखानुभूति रूप कार्य होता है, उसकी सिद्धि इन्द्रियों और मन को आह्लादित करनेवाले स्वादिष्ट, सुन्दर, कर्णप्रिय, मृदु और सुगन्धित अन्न-पान वस्त्राभूषण, संगीत आदि पदार्थों की उपलब्धि से होती है, अस्वादिष्ट, असुन्दर, अकर्णप्रिय, रूक्ष आदि पदार्थों की उपलब्धि से नहीं। इसलिए कोई भी भवन सुन्दर, सुविधामय और स्वास्थ्यानुकूल होने पर तो सातावेदनीय के उदय से होनेवाले सुखानुभूतिरूप कार्य का साधक होता है, किन्तु उसके रसोईघर, स्नानघर, शयनकक्ष, अध्ययनकक्ष, आदि का वास्तुशास्त्रानुकूल दिशा में स्थित होना स्वादिष्ट, सुन्दर, कर्णप्रिय,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृदु या सुगन्धमय अनुभूति प्रदान नहीं करता, इसलिए वह सातावेदनीय के उदय के सुखानुभवन रूप कार्य का साधक न होने से उसके उदय का निमित्त या नोकर्म नहीं होता। इससे ठीक उलटा वास्तुशास्त्रप्रतिकूल गृह के विषय में समझना चाहिए।

मति-श्रुतज्ञानी जीव वास्तुशास्त्र के कथित परिणामों को जानने में असमर्थ

वास्तुशास्त्र के अनुकूल और प्रतिकूल गृह में वास को जो अपमृत्यु-अनपमृत्यु, कुलक्षय-कुलरक्षा, धनक्षय-धनवृद्धि, पारिवारिक और सामाजिक शान्ति-अशान्ति का निमित्त बतलाया गया है, वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध छद्मस्थों के इन्द्रियगम्य नहीं है। वह न तो सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित किया गया है, न ही किसी मतिश्रुतज्ञानी ने प्रयोगों के द्वारा सिद्ध किया है। सभी वास्तुशास्त्री छद्मस्थों द्वारा कल्पित और उनसे सुनी-सुनाई बात को सर्वज्ञवचन कहकर श्रावकों पर थोपे चले जा रहे हैं।

कोई भी वास्तुशास्त्री यह नहीं बतला सकता कि वास्तुशास्त्र प्रतिकूल घर में रहने से मनुष्य की अपमृत्यु और कुलक्षय क्यों हो जाता है? क्या कोई ईश्वर या देव रुष्ट होकर गला दबाकर मार डालता है? या घर के वातावरण में कोई जहर घुल जाता है अथवा किसी खतरनाक बैक्टीरिया या वायरस की उत्पत्ति हो जाती है, जिससे रुग्ण होकर मनुष्य असमय में मर जाता है? यदि ऐसा है, तो सिद्ध किया जाय, और यदि ऐसा नहीं है तो सिद्ध है कि वास्तुशास्त्रप्रतिकूल घर में रहने से कोई हानि नहीं होती।

कोई भी मतिश्रुतज्ञानी जीव यह नहीं जान सकता कि वास्तुशास्त्रप्रतिकूल गृह में रहने से मनुष्य के उन विविध असाता-वेदनीय कर्मों का उदय होता है, जिनसे उसे अनेक प्रकार के शरीरिक और मानसिक दु:ख होते हैं, परिवार और समाज में अशान्ति पैदा होती है, व्यापार-व्यवसाय में सफलता नहीं मिलती, मनुष्य की अकालमृत्यु हो जाती है, धनक्षय और कुलक्षय हो जाता है। यह भी नहीं जान सकता कि वास्तुशास्त्रप्रतिकूल गृह में रहने से उसके ऐसे अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं, जिनसे उपर्युक्त अनिष्टों को करनेवाले असातावेदनीय का उदय होता है, क्योंकि ये कार्य इन्द्रियगम्य नहीं हैं, अतीन्द्रिय हैं और अतीन्द्रिय कार्य केवल अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञानगम्य होते हैं। अतीन्द्रिय कार्यों के कारण के विषय में मतिश्रुतज्ञानी मनुष्य केवल अटकल लगाता है और अटकल प्रामाणिक नहीं होती। उपर्युक्त अनिष्टों को अंजाम देनेवाले असातावेदनीय कर्म का उदय वास्तुशास्त्रप्रतिकूल घर में रहने से ही होता है, इसका क्या प्रमाण है? वह स्वोदयकाल आने पर भी हो सकता है अथवा कुदेवादि-श्रद्धारूप मिथ्यात्व एवं विषयाकांक्षारूप तीव्र अशुभपरिणामों से भी हो सकता है।

धनार्जन के अन्तरंग और बाह्य निमित्त : साता का उदय एवं पौरुष

इसके अतिरिक्त जैसे इष्ट इन्द्रियविषय सातावेदनीय के उदय से उत्पन्न होनेवाले सुख के बाह्य साधन हैं, वैसे वास्तुशास्त्रानुकूल गृहवास धनार्जन आदि का बाह्य साधन नहीं है। यदि होता तो भगवान् ऋषभदेव प्रजा को धनार्जन हेतु असि, मसी, कृषि आदि कार्य करने का उपदेश न देते, वास्तुशास्त्रानुकूल गृह में निवास का उपदेश देते अथवा असि, मसी, कृषि आदि कार्यों को करने के साथ वास्तुशास्त्रनुकूल गृह में वास भी आवश्यक बतलाते। किन्तु नहीं बतलाया (देखिए, कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा / टीका / गाथा १७-१८)। इससे सिद्ध है कि वास्तुशास्त्रानुकूल गृह में वास धनार्जन या धनरक्षा आदि के लिए आवश्यक नहीं है।

प्रयोग किये जायँ

हाँ, यदि वास्तुशास्त्री ऐसा प्रयोग करें कि वास्तुशास्त्र-प्रतिकूल गृह में रहनेवाले दरिद्र व्यक्ति या किसी वास्तुशास्त्री को वास्तुशास्त्रानुकूलगृह में रखें और जब वहाँ रहकर वह धनवान् बन जाये, तब उसे पुन: वास्तुशास्त्रप्रतिकूल गृह में स्थानान्तरित कर दें। वहाँ रहने पर यदि वह निर्धन हो जाय, तो उसे पुन: वास्तुशास्त्रानुकूल गृह में वापिस ले आयें। वहाँ यदि वह पुन: धनवान् हो जाता है, तो ऐसा परिवर्तन एक-दो बार और करके देखा जाय और यह प्रयोग एक से अधिक व्यक्तियों पर किया जाय। यदि वही परिणाम हर बार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त हो, तो सिद्ध हो सकता है कि वास्तु-शास्त्रानुकूल गृह में वास सातावेदनीय के उदय का और प्रतिकूल गृह में वास असाता के उदय का निमित्त है। इसी प्रकार के प्रयोग अपमृत्यु एवं कुलक्षय के विषय में भी करके देखे जायँ। इसी तरह भारत और पाक के नेताओं, दिगम्बर-श्वेताम्बर, तेरापन्थी-बीसपन्थी, सोनगढ़ी-असोनगढ़ी आदि सम्प्रदायों के नेताओं को तथा एक ही परिवार के परस्पर शत्रुभाव रखनेवाले सदस्यों को वास्तुशास्त्रानुकूल भवनों में रखकर देखा जाय। यदि उनमें रहने पर वे, पड़ौसीदेश, सम्मेदशिखर आदि तीर्थ, पूजापद्धति, निश्चय और व्यवहार, धन-जमीन आदि विषयक विवादों और कलहों को त्याग कर परस्पर मैत्रीभाव से रहने लगते हैं, तो सिद्ध हो सकता है कि वास्तुशास्त्रानुकूल गृह में वास सातावेदनीय के उदय का और तत्प्रतिकूल गृह में वास असातावेदनीय के उदय का निमित्त है।

क्या वास्तुशास्त्री ऐसे प्रयोग करके दिखलायेंगे? सर्वज्ञ ने वास्तुशास्त्रानुकूल और तत्प्रतिकूल गृहों में वास को उपर्युक्त लाभ-हानियों का हेतु नहीं बतलाया है। ऐसी हालत में उपर्युक्त प्रयोगों से ही वास्तुशास्त्र-विषयक तथाकथित मान्यताएँ प्रामाणिक सिद्ध हो सकती हैं। वास्तुशास्त्री जब तक प्रयोगों के द्वारा उपर्युक्त नियमों को सत्य सिद्ध नहीं कर देते, तब तक उनकी वास्तुशास्त्रविषयक मान्यताएँ विश्वसनीय नहीं हो सकतीं।

सातावेदनीय के उदय के बाह्यनिमित्त

जीवविपाकी सातावेदनीय के उदय के लिए स्वादिष्ट रस, सुन्दर रूप, आह्लादक गन्ध, मृदु स्पर्श, कर्णप्रिय शब्द, तथा आदर-सत्कार, प्रशंसा, प्रोत्साहन आदि के सूचक वचन एवं तदनुरूप व्यवहार आदि आवश्यक होते हैं, क्योंकि ये सातावेदनीय के उदय से जो सुखानुभवन रूप कार्य होता है, उसके बाह्य साधक हैं।

और धनादि सुखसामग्री कै प्राप्ति के लिए अभ्यन्तर में पुद्गलविपाकी सातावेदनीय का उदय हो तथा बाह्य में मनुष्य कृषिवाणिज्यादिरूप पौरुष करे, तब धनादि की प्राप्ति होती है। वास्तुशास्त्रानुकूल गृह न तो स्वनिवासी मनुष्य के लिए स्वयं कृषिवाणिज्यादि रूप पौरुष करता है, क्योंकि वह अचेतन है, इसलिए उसमें ज्ञान, रागद्वेष, पक्षपात और शुभाशुभ प्रवृत्ति नहीं होती, न वह स्वनिवासी मनुष्य में उक्त पौरुष करने की बुद्धि उत्पन्न करता है, क्योंकि बुद्धि कर्मानुसारिणी होती है- 'बुद्धिं कर्मानुसारिणीं' (आदिपुराण/४४/५५), न ही वह मनुष्य के पुण्य में वृद्धि करता है, क्योंकि यह जीव के शुभभावों से होती है, न वह मनुष्य में शुभभावों की उत्पत्ति करता है, क्योंकि वह समीचीन देव, शास्त्र, गुरु और धर्म के अवलम्बन से होती है, न ही उसमें कोई दैवी या ईश्वरीय शक्ति होती है, जिससे वह स्वनिवासी मनुष्य को धनवान् बना दे, क्योंकि जिनागम जीवों के भाग्य का निर्माण करनेवाले किसी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार वास्तुशास्त्रानुकूल गृह पुद्गलविपाकी सातावेदनीयकर्म के उदय से होनेवाले धनादि-सम्पादनरूप कार्य का बाह्यसाधक नहीं बन पाता। इसके अतिरिक्त वास्तुशास्त्र में गृह के विभिन्न स्थानों की दिशाओं का ही धनार्जन-धनक्षय आदि में हाथ होना बतलाया गया है, किन्तु दिशाएँ आकाशद्रव्य के विभिन्न भागों के नाम हैं और जिनागम में आकाशद्रव्य का एक ही कार्य बतलाया गया है- लोक के सभी द्रव्यों को स्थान देना- **'आकाशस्यावगाहः।'** (त.सू./५/१८)। जैसे पुद्गल के अनेक कार्यों में **"सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च"** (त.सू./५/२०) सूत्र द्वारा जीव के सुख, दुःख, जन्म, मरण आदि कार्य भी बतलाये गये हैं, वैसे आकाश द्रव्य के अन्य कार्य नहीं बतलाये गये हैं। तथा वह शुद्ध द्रव्य है, इसलिए वह न अमृतरूप से परिणमन करता है, न विषरूप से, न वरदाता के रूप से, न शापदाता के रूप से। अतः वास्तुशास्त्रानुकूल गृह जीव के पुद्गलविपाकी सातावेदनीय कर्म के उदय का भी निमित्त नहीं है। इसी तरह वास्तुशास्त्रप्रतिकूल गृह असातावेदनीय के उदय का निमित्त नहीं है।

निष्कर्ष यह कि वास्तुशास्त्र के अनुकूल या प्रतिकूल गृह में वास से मनुष्य की कोई भी लाभ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हानि नहीं होती।

आर्षग्रन्थों के ही प्रमाण जिनागम-सम्मत

जो जैन वास्तुशास्त्री और उनके समर्थक वास्तुशास्त्र और मनुष्य के सुख-दुःख में कारणकार्य-सम्बन्ध सिद्ध करना चाहते हैं, उन्हें षद्खण्डागम आदि ग्रन्थों से (जिनके नाम इस टिप्पण के प्रारंभ में लिये गये हैं उनसे, भट्टारकीय ग्रन्थों से नहीं) वे सर्वज्ञवचन प्रस्तुत करना चाहिए, जिनमें यह कहा गया हो कि वास्तुशास्त्रप्रतिकूल गृह में रहने से रहनेवालों की अपमृत्यु, कुलक्षय, धनक्षय एवं अशान्ति, कलह आदि दुष्परिणाम होते हैं, तथा वास्तुशास्त्रानुकूल घर में निवास करने से उक्त दुष्परिणाम नहीं होते, अपितु धनवृद्धि, कार्यों में सफलता, पारिवारिक एवं सामाजिक शान्ति आदि सुपरिणाम होते हैं। सर्वज्ञवचन के प्रमाण के बिना वास्तुशास्त्र के पक्ष में कोई भी बात करना वैसा ही है, जैसे कोई बन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम और शशशृंग के पक्ष में बात करे।

रतनचन्द्र जैन (सम्पादक)

दयोदय पशु सेवा केन्द्र, सतना के अध्यक्ष डॉ० सरोजकुमार जैन का निधन

सतना, १३ जून की रात्रि ११.४५ बजे दयोदय पशु सेवा केन्द्र के अध्यक्ष डॉ० सरोज कुमार जैन (हड्डी रोग विशेषज्ञ) का ६७ वर्ष की आयु में निधन हो गया है। दानशील, विनम्र, धार्मिक विचारों के डॉ० जैन को नगर एवं समाज के सैकड़ों जनों ने अश्रुपूरित श्रद्धांजलि दी। आप पूज्य प्रमाणसागर जी के परम भक्त थे।

म० प्र० एवं छ० ग० लोकसेवा आयोग की परीक्षा में सफलता

परम पूज्य १०८ आचार्यश्री विद्यासागर जी मुनिमहाराज की आशीष व प्रेरणा से संचालित भारतवर्षीय दिगम्बर जैन प्रशासकीय प्रशिक्षण संस्थान जबलपुर के ७७ प्रशिक्षार्थियों में से ३८ प्रशिक्षार्थी म.प्र. लोक सेवा आयोग प्री एवं १२ छ.ग. लोक सेवा आयोग कुल ५० प्रशिक्षार्थियों का उत्तीर्ण होना प्रशंसा एवं सराहना का विषय बना हुआ है।

पूज्य मुनि श्री सुख सागर जी का पावन चातुर्मास

अमरपाटन। परम पूज्य संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के शिष्य पू० मुनि श्री **सुखसागर जी एवं क्षुल्लक श्री संयम सागर जी महाराज का पावन चातुर्मास धर्म प्रभावना के साथ सानन्द सम्पन्न हो रहा है।**

सम्पर्क सूत्र- श्री चन्द्रप्रभु दि० जैन मंदिर गाँधी चौक, अमरपाटन जिला-सतना (म०प्र०) मो० ९८९३३५६४७३

पूज्य मुनिश्री क्षमासागर जी का पावन वर्षायोग

हर्ष का विषय है कि संत शिरोमणि आचार्य गुरुवर श्री विद्यासागर जी महाराज के शुभाशीष से परमपूज्य मुनि श्री क्षमासागर जी महाराज का पावन वर्षायोग श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल परिसर, पिसनहारी मढ़िया के सामने जबलपुर में हो रहा है। बाहर से पधारनेवाले समस्त धर्मानुरागी बन्धुओं के भोजन एवं आवास की व्यवस्था की गई है।

निवेदक
अधिष्ठाता-
बाल ब्र० जिनेश जैन भैया जी
श्री सकल दि० जैन समाज जबलपुर

चम्पी बाई जैन का समाधिमरण

सतना, नगर के प्रतिष्ठित जैन समाज के स्तंभ स्व. दादा हुकुमचंद जैन की धर्मपत्नी श्रीमती चम्पीबाई जैन का २३ जुलाई २००९ को रात्रि १०.२५ बजे समाधिपूर्वक मरण हो गया है। विदित हो कि राष्ट्रसंत आचार्य विद्यासागर जी की शिष्या आर्यिका अनंतमति माता जी ससंघ सतना में पावन वर्षायोग हेतु विराजमान हैं। उनकी दिव्य प्रेरणा से विगत ३० जून ०९ को श्रीमती चम्पीबाई जैन गृहत्याग कर मंदिर जी में तप, त्याग और धर्म के अंतिम मर्म को स्वीकार कर पूरे आर्यिकासंघ के चरणसान्निध्य में ८५ वर्ष की आयु में समाधिमरण को प्राप्त हुईं। आप श्री अभयकुमार पवनकुमार, सनतकुमार संदीपकुमार एवं अविनाश की माताजी थीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज का वास्तुशास्त्र : पुनर्चिन्तन की आवश्यकता

प्राचार्य, पं० नरेन्द्रप्रकाश जैन

मन्त्र-तन्त्र, टोना-टोटका, पंथवाद (तेरह-बीस), सरागदेवपूजा, वास्तुविद्या आदि को हम संवेदनशील विषयों की श्रेणी में गिनते हैं। इन पर विगत में जमकर वाद-विवाद होते रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे। इन विषयों पर सर्वमान्य सम्मति न तो अब तक बन पाई है और न कभी बनती हुई दिखती है। जैनागम में इनके नामोल्लेख एवं कुछ सांकेतिक विवरण तो मिलते हैं, किन्तु अधिक विस्तार नहीं मिलता है। इधर के कुछ वर्षों में इन विषयों पर अनेक प्रकाशित ग्रन्थ समाज के सामने आए हैं। उन्हें पढ़कर लगता है कि उनमें अमुक-अमुक की डायरियों, जैनेतर शास्त्रों और स्वकल्पना से आधार लेकर और नई-नई बातें गढ़कर मिलावट बहुत हुई है।

अल्पज्ञानी एवं ढुलमुल श्रद्धानी शारीरिक सुख तथा मनोनुकूल सुविधाएँ पाने या जुटाने की लालसा में इनकी ओर आकर्षित होते रहे हैं। आध्यात्मिक उत्कर्ष में ये सहायक नहीं हैं। ये सभी लौकिक विषय हैं। धर्म या सिद्धांत से इनका कुछ भी लेना-देना नहीं है। इनके माध्यम से जो फलश्रुतियाँ प्रस्तुत की जाती हैं या सब्जबाग दिखाये जाते हैं, वे सांसारिक सुख में तो कदाचित् निमित्त बन सकते हैं, किन्तु आत्मिक सुख में कदापि नहीं, **आत्मसुख तो स्वाधीन होता है, पराश्रित नहीं।**

यह ठीक है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अपनी प्रारम्भिक अवस्था में कर्मोदयजनित बाधाओं से पार होने के लिए वह परावलम्बन भी ग्रहण करता है, ठीक उस तरह, जिस तरह एक छोटा बालक चलते समय गिरने से बचने के लिए तीन पहियों की लकड़ी की गाड़ी की सहायता लेता है, किन्तु चलना आते ही गाड़ी छूट जाती है। आज वास्तुशास्त्र के नाम पर हजारों-हजारों नए-नए विधि-निषेध जुड़ते चले जा रहे हैं, जिनका जैनागम से कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल अपना सिक्का जमाने और दुकान चलाने के लिए उन्हें शास्त्र के नाम पर इधर-उधर से लेकर संकलित कर लिया गया है। **व्यक्ति जीवनभर 'क्या करें और क्या न करें' की चिन्ता से उबर ही नहीं पाता है, इसी का नाम पराधीनता है।** दवा तभी तक ग्रहणीय है, जब तक रोग शान्त न हो। स्वस्थ होने पर भी दवा की लत पड़ जाए, तो उसे राग का विकार मानना चाहिए। आज तो अधिक प्राप्ति की आशा में भले-चंगे स्वस्थ-समृद्ध होते हुए भी लोगों को वास्तु के नित नए-नए प्रयोग करते हुए देखा जा रहा है। **किसी चमत्कार की आशा में लोग मंत्र-तंत्र, सरागदेवपूजा और वास्तु के बंधन से मुक्त होने की इच्छा ही खो चुकते हैं।**

युवा विद्वान् भाई सनतकुमार जी विनोदकुमार जी जैन हमारे आत्मीय एवं स्नेह-पात्रों में से एक हैं, वे कुशल प्रतिष्ठाचार्य होने के साथ ही रचनात्मक लेखन में संलग्न रहते हैं। प्राय: चिन्तनपूर्वक लिखते हैं। कई पूजा-पाठों, विधानों एवं संस्कृत सूत्रों के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर उन्होंने जिनवाणी-रसिकों का बड़ा उपकार किया है। अभी उनका एक आलेख, **'कर्म सिद्धान्त एवं वास्तुशास्त्र का समीक्षात्मक अध्ययन'** शीर्षक से हमारे सामने आया है। अपने आलेख में उन्होंने जैनदर्शन में वर्णित कार्यकारणभाव से सम्बद्ध समयसार, प्रमेयकमलमार्तण्ड, परीक्षामुख, सर्वार्थसिद्धि, कौन्देय-कौमुदी आदि से कुछ गाथायें या अंश उद्धृत कर और उन्हें वास्तुशास्त्र की समीचीनता से जोड़कर प्रस्तुत किया है। यह शैली ठीक है और हम इसकी सराहना करते हैं, किन्तु **इस आलेख के कुछ अंशों से हमारी कतई सहमति नहीं है।** सहज भाव से कुछ प्रसंगों पर पुनर्चिन्तन हो, इस अपेक्षा से हम अपने विचार यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

असहमति के बिन्दु

वर्तमान में जैनाचार्य-प्रणीत स्वतन्त्र वास्तुशास्त्र उपलब्ध नहीं है। जो भी उपलब्ध है, वह प्राय: भट्टारक-प्रणीत है, इस स्पष्टोक्ति के लिए लेखक धन्यवाद के पात्र हैं, इसी के साथ लिखा है- 'भट्टारक लेखकों के चरित्र पर भले ही कोई उँगली उठा ले, परन्तु उन के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान पर उँगली नहीं उठाई जा सकती।' यह पढ़कर एक जिज्ञासा यह है कि **किसी की करनी और कथनी में एकरूपता न होने पर भी क्या उस ज्ञान को प्रामाणिक माना जा सकता है?** भट्टारक-लेखकों ने वास्तुशास्त्र या मंत्र-तंत्र के बारे में जो भी लिखा है, उसके मूल स्रोत को जाने बिना उससे सहमत कैसे हुआ जा सकता है?

आलेख में '**प्रत्यक्ष प्रमाण**' उपशीर्षक से भयभीत करने वाले कुछ प्रसंगों का भी उल्लेख किया गया है, जिन्हें पढ़कर तो हम बड़ी चिन्ता में पड़ गए हैं। एक सुझाव देने का मन हो रहा है। नगर-नगर में घूमकर ऐसी-ऐसी भयानक घटनाओं का एक सर्वे करना चाहिए। उन सबका पता लगाकर **वास्तुप्रसंग-सहस्त्री** शीर्षक से एक संग्रह-ग्रन्थ प्रकाशित होने पर उससे पीड़ितों को बड़ा लाभ होगा और वे उनसे बोध प्राप्त कर भविष्य में अपने सम्यक्त्व को सुरक्षित रख सकेंगे। हर घर में एक-न-एक ऐसी घटना आसानी से सुलभ हो जाएगी।

आलेख में वर्णित इन पाँच प्रसंगों में एक प्रसंग हमारे नगर के उदारमना सेठ छदामीलाल जी की मृत्यु के ३४ वर्षों के बाद उसके कारण का उद्‌घाटन करने वाला भी है, जिसके बारे में इससे पूर्व न तो हमने किसी से सुना और न कहीं पढ़ा है। जिस मूर्ति के सदोष होने के कारण उनकी निन्दनीय मृत्यु होना बताया जा रहा है, उस समय वह मूर्ति अप्रतिष्ठित थी। प्राण-हीन पाषाण-पिण्ड से जब इतनी बड़ी अनहोनी हो सकती है, तो प्रतिष्ठित होने के बाद वह और क्या क्या गुल खिलायेगी और किन-किन को उसके दुष्परिणाम भोगने पड़ेंगे, यह सोचकर लोगों के मन व्याकुल हो उठेंगे, क्या ऐसी कोरी कल्पनाओं से वास्तुशास्त्र की समीचीनता सिद्ध हो सकेगी?

सोचने की एक बात यह भी है कि सेठ जी न तो कोई वास्तुशास्त्री थे, जो उसके निर्दोष होने की परख कर पाते और न वह मूर्ति के शिल्पकार ही थे। मूर्ति तो उस कलाकार ने बनाई, जिसे तक्षण-कला की निपुणता के लिये 'पद्मश्री' की उपाधि से नवाजा जा चुका था। मूर्ति के शिला-पूजन के शुभ मुहूर्त (१२ सितम्बर १९७३) के दिन चार वास्तु-विशारद भट्टारकगण उपस्थित थे और मूर्ति की पूर्णता तक उनका निर्देशन लिया जाता रहा था। प्रश्न है कि फिर भी यह अशुद्धि कैसे रह गई। सेठ जी ने तो उसके निर्माण में भक्ति-भाव से अपनी चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग किया था। हमने अपनी खुली आँखों के सामने उन्हें भक्ति-विह्वल होकर मूर्ति के इर्द-गिर्द हर्षातिरेक से नाचते-गाते देखा है, हम कैसे विश्वास करें कि एक भक्त को भी ऐसा कठोर दण्ड मिल सकता है? बाद में जिन वास्तुविद् प्रतिष्ठाचार्यों ने इस सदोष मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई, क्या उनके संज्ञान में भी यह दोष नहीं आ सका?

अन्य वर्णित प्रसंगों के भी तर्कसम्मत विश्लेषण की आवश्यकता है। हमें तो आश्चर्य है कि स्वाध्यायशील वयोवृद्ध एवं अनुभववृद्ध श्री शान्तिलालजी बैनाड़ा ने कैसे तो इन प्रसंगों को वास्तुदोष से जोड़कर प्रस्तुत किया और कैसे हमारे सुधी विद्वानों ने इन प्रसंगों को **प्रत्यक्ष प्रमाण (?) की संज्ञा दे डाली, अवधिज्ञान के बिना तो यह सब हमें कैसे भी सम्भव नहीं दिखता।**

जहाँ तक धनार्जन की बात है, वह तो जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है। वैसे भी धन को तो ग्यारहवाँ प्राण कहा गया है। जिस विधि से भी वह आए, हमें क्यों ईर्ष्या होगी, पर **इतना तो ध्यान रखना ही होगा कि पहले तो किसी को भयभीत करें और फिर उसे भय से मुक्ति का उपाय बतायें, श्रावक के लिये धन कमाने का यह तरीका उचित नहीं है,** यह तो कीचड़ में पैर सानकर फिर उसे पानी से धोने के समान हैं।

निवेदन है कि असहमति को विरोध न समझ कर वर्तमान में चल रहीं वास्तुशास्त्रीय प्रवृत्तियों के पुलर्मूल्यांकन की विनम्र अपील के रूप में स्वीकार किया जाए।

सिद्धान्त तो वही है, जो हम प्रतिदिन सामायिक पाठ में पढ़ते हैं- '**निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।**' प्रवृत्ति जो भी हो, श्रद्धा में तो यही भाव रहना चाहिए। इत्यलम्

सम्पर्क सूत्र-
१०४, नई बस्ती, फीरोजाबाद (उ.प्र.)
मो. ०९३५८५८१००८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिज्ञासा-समाधान

पं० रतनलाल बैनाड़ा

प्रश्नकर्ता- विनयकुमार जैन, देहली।

जिज्ञासा- क्या तीर्थंकर भगवान के माता-पिता का २-३ भव में मोक्ष जाने का नियम है?

समाधान- तीर्थंकर के माता-पिता के मोक्ष जाने के सम्बन्ध में तिलोयपण्णत्ति में इसप्रकार कहा है-

तित्थयरा तग्गुरओ, चक्की-बल-केसि-रुद्द-णारद्दा।
अंगज-कुलयर-पुरिसा, भव्वा सिज्झंति णियमेण॥
४/१४८५॥

अर्थ- तीर्थंकर (२४), उनके गुरुजन (२४+२४ माता एवं पिता), चक्रवर्ती (१२), बलदेव (९), नारायण (९), रुद्र (११), नारद (९), कामदेव (२४) और कुलकर (१४) ये सब १६० भव्य पुरुष नियम से सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त कथन में भगवान् के माता-पिता के नियम से सिद्ध होने का तो वर्णन है, परन्तु कितने भव में सिद्ध होंगे इसका कोई उल्लेख नहीं है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में इस गाथा का अर्थ करते हुए श्री जिनेन्द्र वर्णी ने- 'उसी भव में या अगले एक-दो भवों में' इसप्रकार जो लिखा है वह उनकी अपनी धारणा हो सकती है, परन्तु उपर्युक्त गाथा में ऐसा कोई भी शब्द नहीं कहा गया है। अत: तीर्थंकर के माता-पिता नियम से सिद्ध होते हैं, इतनी मात्र धारणा बनाना आगम सम्मत है।

जिज्ञासा- ५६ कुमारी देवियाँ कौन होती हैं और वे कहाँ निवास करती हैं?

समाधान- ५६ कुमारियों के संबंध में प्रतिष्ठा रत्नाकर की प्रस्तावना पृष्ठ २९ में इस प्रकार कहा है-

भवनवासी देवियाँ-२०, व्यंतर-१६, ज्योतिष्क-२, कल्पवासी-१२, तथा कुलाचल की देवियाँ-६ =५६ देवियाँ होती हैं। 'पं० गुलाबचन्द्र जी पुष्प अभिनन्दन ग्रन्थ' पृष्ठ २/२०७ पर यह उल्लेख मिलता है। (२) पं० भूधरदास जी के 'चर्चासमाधान' नं० ६८ के समाधान में ५६ दिक्कुमारियों की नामावली निम्न प्रकार बताई है-

कल्पवासी की इन्द्राणी-१२, भवनवासिनी की इंद्राणी-२०, व्यन्तरों की इन्द्राणी-१६, चन्द्रमा की-१, सूर्य की-१, तथा कुलाचल-वासिनी श्री आदि-६ = ५६ दिक्कुमारियाँ होती हैं।

उपर्युक्त दोनों समाधानों में कोई तथ्य प्रतीत नहीं होता और कोई आगमप्रमाण भी नहीं दिया गया है, अत: इनको कैसे माना जाये?

दिक्कुमारियाँ, जो तीर्थंकर की माता की सेवा करने के लिए आती हैं, उनके सम्बन्ध में त्रिलोकसार गाथा-९४८ से ९५९ तक जो वर्णन किया गया है उसके अनुसार रुचिक पर्वत की पूर्व दिशा में विजया आदि ८ देवकुमारियाँ निवास करती हैं, जो श्रृंगार धारण कर माता की सेवा करती हैं। इसी पर्वत की दक्षिण दिशा में इच्छा आदि ८ दिक्कुमारियाँ निवास करती हैं, जो दर्पण लेकर, पश्चिम दिशा में ईला देवी आदि ८ दिक्कुमारियाँ निवास करती हैं, जो तीन छत्र धारण करती हैं। तथा उत्तर दिशा में अलम्भूषा आदि ८ दिक्कुमारियाँ निवास करती हैं, जो चमर धारण कर महाप्रमोद से युक्त होती हुई तीर्थंकर की माता की सेवा करती हैं। इसप्रकार ३२ दिक्कुमारियों का कथन हुआ।

उपर्युक्त के अलावा रुचकगिरि के अभ्यन्तर कूटों में से चारों दिशा में कनका आदि चार देवियाँ रहती हैं, जो तीर्थंकर के जन्म काल में सर्व दिशाओं को निर्मल करती हैं तथा इन कूटों के आभ्यंतर की ओर चारों दिशाओं में रुचिका आदि चार देवियाँ रहती हैं, जो तीर्थंकर के जन्म समय में जातकर्म करने में कुशल होती हैं।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग २/४२८ के अनुसार नन्दनवन में सुमेधा आदि ८ दिक्कुमारी देवियाँ निवास करती हैं, जो गर्भ के समय भगवान् की माता की सेवा करती हैं। यहाँ तक ३२+८+८=४८ दिक्कुमारियों का वर्णन हुआ। इनमें श्री ह्री, धृति कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी तथा तुष्टि और पुष्टि ये ८ दिक्कुमारियों के नाम और मिलाने से समस्त दिक्कुमारियाँ ५६ होती हैं। शायद इसप्रकार ५६ दिक्कुमारियों की धारणा बनाई गई हो। किसी भी शास्त्र में ५६ दिक्कुमारियों की संख्या का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता। प्रतिष्ठाचार्यों से नम्र निवेदन है कि वे इस संबंध में और प्रकाश डालने का आगमप्रमाणसहित प्रयास करें।

उपर्युक्त देवियों को दिक्कुमारी क्यों कहा जाता है, इस संबंध में भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। कुछ महानुभावों की धारणा ऐसी है कि इनका कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी देव स्वामी नहीं होता है, इसलिए ये दिक्कुमारी कहलाती हैं। तथा कुछ महानुभाव ऐसा भी कहते हैं कि स्वर्गों में कोई भी देवी अपने स्वामी देव के बिना नहीं होती। सभी देवियों का कोई न कोई देव स्वामी अवश्य होता है। इस संबंध में जम्बूदीपपण्णत्तिसंगहो की निम्न गाथाएँ ध्यान देने योग्य हैं-

णिच्चं कुमारियाओ अहिणवलावण्णरुवजुत्ताओ।
आहरणभूसिवाओ मिदुकोमलमहुरवयणाओ॥ १३६॥
तेसु भवणेसु णेया देवीओ होंति चारुरूवाओ।
धम्मेणुप्पण्णाओ विसुद्धसीलस्स भावाओ॥ १३७॥

अर्थ- उन भवनों में सदा कुमारी रहनेवाली ये देवियाँ अभिनव लावण्यरूप से संयुक्त, आभरणों से भूषित, मृदु, कोमल एवं मधुर वचनों को बोलनेवाली, सुन्दर रूप से सहित और विशुद्ध शील व स्वभाव से सम्पन्न होती हैं।

उपर्युक्त कथन यद्यपि रुचकगिरि आदि पर निवास करनेवाली और गर्भ एवं जन्म के समय तीर्थंकर की माता की सेवा करनेवाली दिक्कुमारियों के संबंध में नहीं कहा गया है, तथापि इस कथन से यह तो स्पष्ट होता ही है कि कुछ देवियाँ आजीवन कुमारी अर्थात् पति-रहित रहनेवाली भी होती हैं। अत: कदाचित् यह भी सम्भव है कि माता की सेवा करनेवाली दिक्कुमारियाँ भी स्वामीरहित होती हों और इसीकारण दिक्कुमारी या दिक्कन्यायें कहलाती हों। विद्वद्गण कृपया अवश्य विचार करें।

प्रश्नकर्त्ता- ब्र. नवीन भैया जी, जबलपुर।

जिज्ञासा- क्या अनिष्टशांति के लिए पूजा-विधान करना उचित है? आगमप्रमाणसहित उत्तर दें। यह निदान में आएगा या नहीं?

समाधान- वर्तमान में पूजाविधान करने के तीन अभिप्राय दृष्टिगोचर होते है-

१. इस भव में एवं अगले भवों में मुझे सांसारिक वैभव तथा उत्कृष्ट पदों की प्राप्ति हो।

२. अनिष्ट कार्यों की शान्ति के लिए।

३. देवपूजा आदि सम्यक्त्व को बढ़ानेवाली क्रियायें हैं, अत: आत्मकल्याण के लिए।

उपर्युक्त तीनों कारणों में से प्रथम कारण अर्थात् भोगों की आकांक्षासहित यदि पूजाविधान आदि किये जाते हैं, तो वे निश्चितरूप से निदान के अन्तर्गत आते हैं, जैसा कि सर्वार्थसिद्धि ७/३७ में कहा है-

'भोगाकांक्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम्।'

अर्थ- भोगाकांक्षा से जिसमें या जिसके कारण चित्त नियम से दिया जाता है, वह निदान है।

अनिष्टशांति के लिए या आए हुए कष्ट के निवारणार्थ यदि पूजा-विधान आदि किए जाते हैं, तो वे निदान के अंतर्गत नहीं आते। श्री आदिपुराण ४१/८४-८५ में इस प्रकार कहा है-

ततः प्रविश्य साकेतपुरमाबद्धतोरणम्।
केतुमालाकुलं पौरैः सानन्दमभिनन्दिनः॥ ८४॥
शान्तिक्रियामतश्चक्रे दुःस्वप्नानिष्टशान्तये।
जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः॥ ८५॥

अर्थ- तदनन्तर नगर के लोग आनन्द के साथ जिनका अभिनन्दन कर रहे हैं, ऐसे उन महाराज भरत ने जिसमें जगह-जगह तोरण बाँधे गए हैं और जो पताकाओं की पंक्तियों से भरा हुआ है, ऐसे अयोध्या नगर में प्रवेश कर, देखे हुए १६ खोटे स्वप्नों से होनेवाले अनिष्ट की शांति के लिए जिनेन्द्रदेव का अभिषेक करना, उत्तम पात्र को दान देना आदि पुण्य क्रियाओं से शान्तिकर्म किया।

इससे यह स्पष्ट होता है कि अनिष्टशांति के लिए किए गए पूजा विधान आदि निदान नहीं हैं, उनका करना उपयुक्त है।

जिज्ञासा- मैं स्वयं को सम्यग्दृष्टि मानता हूँ, तो क्या मेरे द्वारा जो पंचेन्द्रियों के भोग किए जाते हैं, वे सब निर्जरा के ही कारण हैं, या बंध के भी?

समाधान- ऐसा प्रतीत होता है कि समयसार ग्रन्थ की गाथा नं. १९३ पढ़कर आपने उपर्युक्त प्रश्न किया है। गाथा इस प्रकार है-

उवभोगमिंदियेहिं, दव्वाणमचेदणाणमिदाराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं॥ १९३॥

अर्थ- सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा जो चेतन और अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है, वह सब निर्जरा का ही निमित्त है।

इसकी टीका में आ० अमृतचन्द स्वामी लिखते हैं कि- **'विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव'** अर्थ- वीतराग का उपभोग निर्जरा के लिए ही है।

उपर्युक्त गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य जी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखते हैं- **'अत्राह शिष्यः रागद्वेषमोहाभावे सति निर्जरा कारणं भणितं, सम्यग्दृष्टेस्तु रागादयः सन्ति, ततः कथं निर्जराकारणं भवतीति? अस्मिन् पूर्वपक्षे परिहारः-अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणम्।'**

अर्थ- शिष्य पूछता है- राग-द्वेष-मोह का अभाव निर्जरा का कारण कहा गया है। किन्तु सम्यग्दृष्टि के रागादि होते हैं, तो उसके निर्जरा कैसे हो सकती है? आचार्य उत्तर देते हैं कि इस समयसार ग्रन्थ में वीतराग सम्यग्दृष्टि को ग्रहण करना चाहिए।

उपर्युक्त गाथा का यदि इसप्रकार सही भाव आपने समझ लिया होता, तो उपर्युक्त जिज्ञासा उत्पन्न ही नहीं होती। सिद्धान्त इस प्रकार है कि अविरतसम्यग्दृष्टि के पंचेन्द्रियों के विषयों का सेवन करते हुए मात्र बंध ही होता है, निर्जरा नहीं होती। जबकि पाँचवें या इससे ऊपर के गुणस्थानवर्ती जीव के सांसारिक कार्य करते हुए भी व्रती होने के कारण प्रतिसमय निर्जरा होती है।

उपर्युक्त प्रकरण पर पं० टोड़रमल जी ने मोक्षमार्ग-प्रकाशक के आठवें अधिकार में इसप्रकार कहा हैं- सम्यग्दृष्टि की महिमा दिखाने के लिए, जो तीव्र बंध के कारण भोगादि प्रसिद्ध थे, उन भोगादिक के होते हुए भी श्रद्धान / भक्ति के बल पर मंद बंध होने लगा, उसको तो गिना नहीं और उसके ही बल से निर्जरा विशेष होने लगी, इसलिए उपचार से भोग को भी बंध का कारण नहीं कहा, निर्जरा का ही कारण कहा। विचार करने पर, यदि भोग ही निर्जरा के कारण हों, तो उनको छोड़कर सम्यग्दृष्टि, मुनिपद का ग्रहण क्यों करें।

प्रश्नकर्ता- पं० न्यादरमल जैन शास्त्री

जिज्ञासा- तेरहवें गुणस्थान में होनेवाला यथाख्यात-चारित्र पूर्ण होता है या उसमें कुछ कमी रहती है?

समाधान- आपकी उपर्युक्त जिज्ञासा को हमें दो तरह से समझना होगा। १. यथाख्यातचारित्र पूर्ण है तो किस दृष्टि से? २. उसमें अपूर्णता है तो किस दृष्टि से?

१. ११वें से १४ वें गुणस्थान तक होनेवाले यथाख्यातचारित्र में चारित्रमोहनीय का अभाव होने के कारण कोई जघन्य या उत्कृष्ट भेद नहीं होता है, जैसा कि श्री षटखण्डागम ७ / २ में कहा है-

जहाक्खादबिहारसुद्धिसंजदस्स अजहण्ण-अणुक्क-स्सिया चरित्तलद्धी अणंतगुणा॥१७४॥ कषायाभावेण बड्ढिहाणिकारणभावादो। तेणेवकारणेण अजहण्णा अणुक्कस्सा च।

अर्थ- यथाख्यातविहार-शुद्धिसंयत की अजघन्या-नुत्कृष्टचारित्रलब्धि अनन्तगुणी है। कषाय का अभाव हो जाने से उसकी वृद्धि-हानि के कारण का अभाव हो गया है। इसी कारण वह अजघन्यानुत्कृष्ट भी है। अर्थात् ११वें गुणस्थान से १४वें गुणस्थान तक इसमें जघन्य व उत्कृष्ट भेद नहीं होता।

२. श्रीधवल पु०६, पृष्ठ-२८६ पर इसप्रकार कहा है- **'एवं जहाक्खादसंजमट्ठाणं उवसंत-खीणं-सजोगि-अजोगीणऐक्कं चेव जहण्णुक्कस्सवदिरित्तं होदि, कसायाभावादो।'**

अर्थ- यह यथाख्यात संयमस्थान उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली, इनके एक ही स्थान जघन्य व उत्कृष्ट भेदों से रहित होता है, क्योंकि इन सबके कषायों का अभाव है।

३. श्री राजवार्तिक ९/१८/१४ में इसप्रकार कहा है-**'ततो यथाख्यातचारित्रस्य विशुद्धिः सम्पूर्णः प्रकर्षा-प्रकर्षविरहतः अनन्तगुणा।'**

अर्थ- यथाख्यात चारित्र की पूर्ण विशुद्धि सर्व चारित्रों की अपेक्षा अनन्तगुणी है। इस चारित्र की पूर्ण विशुद्धि सर्व चारित्रों की अपेक्षा अनन्तगुणी है। इस चारित्र में जघन्य और उत्कृष्ट भेद नहीं हैं अर्थात् यह प्रकर्षाप्रकर्ष विभाव से रहित है।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों से स्पष्ट है कि ११वें गुणस्थान से १४वें गुणस्थान तक कषायों का उपशम अथवा क्षय होने के कारण उत्पन्न यथाख्यातचारित्र एकसा है, सम्पूर्ण है और भेदरहित है। अब दूसरी दृष्टि से विचार करते हैं-

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा २३ की टीका में इसप्रकार कहा है-

"यहाँ शिष्य पूछता है कि केवलज्ञान की उत्पत्ति होने पर मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रय की परिपूर्णता हो गई, तो उसी क्षण मोक्ष होना चाहिए। अतः सयोगी और अयोगी जिन नामक दो गुणस्थानों का काल नहीं रहता है। इस शंका का उत्तर देते हैं- 'यथाख्यातचारित्र तो हुआ परन्तु परमयथाख्यात-चारित्र नहीं है। यहाँ दृष्टान्त है- जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता है, तो भी उसे चोर के संसर्ग का दोष लगता है। उसी प्रकार सयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलियों के चारित्र का नाश करनेवाले चारित्रमोह के उदय का अभाव होने पर भी निष्क्रिय शुद्धात्म-आचरण से विलक्षण तीन योग का व्यापार, चारित्र में दोष उत्पन्न करता है तथा तीन योग का जिसको अभाव है, उस अयोगी जिन को, चरम समय के अतिरिक्त, शेष चार अघाति कर्मों का तीव्र उदय चारित्र में दोष उत्पन्न करता है। चरम समय में मंद उदय होने पर चारित्र में दोष का अभाव होने से, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।''

२. श्लोकवार्तिक १/८५-८६ में भी इस प्रकार कहा है- ''यथाख्यातचारित्र क्षायिकपने से पूर्ण है, तथापि अघाति कर्मों को सर्वथा नष्ट करके मुक्ति रूप कार्य को उत्पन्न करने की अपेक्षा अपूर्ण है, वह शक्ति १४ वे गुणस्थान में समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान से उत्पन्न होती है।

इस प्रकार यथाख्यातचारित्र की पूर्णता तथा अपूर्णता के संबंध में उपर्युक्त दोनों प्रकार की अपेक्षाओं से विचार करना उचित है।

१/२०५, प्रोफेसर्स कॉलोनी
आगरा-२८२ ००२, उ० प्र०

ग्रन्थसमीक्षा

मुनि श्री क्षमा सागर जी का ग्रंथ : 'कर्म कैसे करें?'

सुरेश जैन 'सरल'

पुस्तक : कर्म कैसे करें?, प्रवचन संग्रह, **लेखक एवं प्रवचनकर्त्ता** : मुनिरत्न १०८ श्री क्षमासागर जी महाराज, **प्रकाशक** : मैत्री-समूह (भारत), **प्राप्ति स्थान** : श्री पी.एल. बैनाड़ा १/२००/iv प्रोफेसर कॉलोनी, हरि पर्वत, आगरा (उ.प्र.), **मूल्य** : रूपये ६०/-, **पृष्ठ** : १९२ + २०।

वस्तुत: यह लेख समीक्षा की धार पर नहीं है, यह मात्र पुस्तक-चर्चा है, जो एक दिगम्बर मुनि की प्रवचन-शैली से ध्वनित है। गुरुदेव पू० क्षमासागर जी की शैली आम-पाठक को बातों ही बातों में, जैन-दर्शन में चर्चित कर्म-सिद्धांत की भावभूमि के दर्शन कराती है और सचेत करती है कि आदमी को अपने नित-प्रति के जीवन में किस तरह की सोच रखना चाहिए, किस तरह के कार्य सम्पादित करना चाहिए और किस तरह कर्म-बंध से बचते रहना चाहिए। मुनिवर एक 'पाठ्य पुस्तक' की रूप रेखा जैसा विस्तार लेकर नहीं चले हैं, इस ग्रंथ में, वे अपनी प्रवचन कला से उसे जानबूझकर 'सहायक-वाचन' का स्वरूप प्रदान करने में सफल रहे हैं और परोक्ष में सिद्ध करते हैं कि जीवन की 'पाठ्य पुस्तक' आगम के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, यह तो सहायक-वाचन है, जो कर्मसिद्धांत के रहस्यों को समझने में दर्पणवत् है। जब पूरी पुस्तक पढ़ते हैं, तो ज्ञात होता है कि प्रवचन तो एक ही है, उसका कथन १८ किश्तों में पूर्ण किया गया है। वे पाठक को 'कर्म-सिद्धांत' के दुरूह-मार्ग पर नहीं चलने देते, जहाँ उसके सोच को कोई कंटक गड़े, वे तो उसे मनोरम उद्यान में घुमाते हुए ले चलते हैं कि टहलना भी हो जावे और कर्म-चर्चा भी।

मुझे विश्वास हुआ है कि कर्म-सिद्धांत जैसे जटिल विषय पर इससे अधिक सरल लेखन अन्य नहीं हो सकता। मुनिवर कहीं भी शिक्षक की तरह पाठकों को कर्म की परिभाषा या कर्म के भेद शास्त्रीय-भाषा में नहीं समझाते, यह ही इस संकलन का चरम-चमत्कार है, हर प्रवचन में वे घरेलू बोली-बानी अपना कर चले हैं। यही कारण है कि प्रवचनों में जो कुछ कहते हैं, उसका संदेश पाठक को समझाता है कि मन, वाणी और देह की क्रियाओं से निरंतर कोई न कोई कर्म उत्पन्न होता है। चाहे वह 'कर्म' कुछ करने से हुआ हो, चाहे कुछ भोगने से या कुछ पाने (संचित करने) से।

मुनिवर ने हर प्रवचन में संकेत किया है कि संसार में तीन हेतु कर्म-बंध की प्रक्रिया के कारण बनते हैं, वे हैं- आदमी की आसक्ति, मोह, पुरुषार्थ में लापरवाही और आदमी की अज्ञानता। गुरुदेव समझाते हैं कि मोह या आसक्ति पर व्यक्ति का जोर नहीं चल पाता, क्योंकि वर्तमान आसक्ति पूर्वकृत कार्यों की फलश्रुति होती है, अत: उसका कुफल भोगना ही पड़ता है। मगर जब आदमी वर्तमान में हो और सुदिशा में सावधानी से नि:स्पृह-पुरुषार्थ करे, तो वह कर्मों की दिशा बदलने में किंचित साफल्य भी प्राप्त कर सकता है। यही है कर्म-बंध की प्रक्रिया का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान। इस (ऐसे) ज्ञान से कर्म-फल भोगने और नये कर्म-बंध होने की प्रक्रिया को वांछित दिशा दी जा सकती है। जो व्यक्ति कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह मोह को क्रमशः विसर्जित करते हुये और वीतराग-भाव को अपनाने की अभिलाषा लाकर, अशुभकर्म-बंध को रोक सकता है, शुभ कर्म-बंध को गति दे सकता है।

प्रवचनों को पढ़ लेने के बाद पाठक के मन में स्व-स्फूर्त-चिंतन उपजता है कि कर्मों पर विजय प्राप्त करने के लिए मुनिवर ने तीन मार्ग बतलाये हैं-

१. अपने चारों ओर के वातावरण से सामंजस्य स्थापित करें।

२. किसी के तर्क, विवाद या प्रश्न पर उत्तर देने की शीघ्रता न करें, अर्थात् शीघ्र प्रतिक्रिया न करें। यदि करने की स्थिति ही बन जावे, तो सकारात्मक और रचनात्मक प्रतिक्रिया करें।

३. अन्य के घात या स्व के प्रतिघात से बचने का श्रेष्ठ प्रयत्न करें।

मुनिवर श्री क्षमासागर जी ने चौथे प्रवचन में कहा है कि कर्म, जब अपना फल देने के लिए आ जाये, उसका उदय हो जाये, तब व्यक्ति का परिणाम समतामय रहना चाहिए। समता बनी रहेगी तो कर्म अधिक कष्ट नहीं दे पायेंगे, आदमी के भीतर का हर्षविषाद नियंत्रित हो जायेगा। समस्त १८ प्रवचन गोपन संकेत तो करते ही हैं, समझाइश भी देते हैं कि जैन-दर्शन में कर्म के मुख्य रूप से तीन भेद हैं- द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म। तीनों कर्मों को समझाने में उनकी भाषा कमाल करती हुई लगती है, लोग पढ़ते जाते हैं और समझते जाते हैं। फिर द्रव्य-कर्म के चार भेद- प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध समझाते हैं। एक प्रवचन में वे प्रकृति-बंध के आठ प्रकारों को चुपचाप पाठक के मस्तक में उतार देते हैं और धीरे-धीरे आठो कर्मों के १४८ उत्तर-भेदों की चर्चा भी श्रेष्ठ उदाहरणों एवं प्रसंगों के माध्यम से हृदय तक पहुँचा देते हैं। ध्यान दें, पंद्रहवें प्रवचन में गुरुवर बतलाते हैं कि साधक के कान ऊपर-ऊपर बहुत कुछ बातें सुनते रहते हैं, जब भीतर से सुनने की आकांक्षा का प्रादुर्भाव होता है, तब 'धर्म-श्रवण' उसके जीवन को देवत्व की ऊँचाई प्रदान कर देता है। यहीं से शुरू होती है तपस्या में तत्परता, भले ही शरीर कमजोर या रुग्ण हो, पर वह अपने जीवनोत्थान व आत्म-विकास के लिये 'कुछ' अवश्य कर जाता है।

मुनिवर ने अंतिम प्रवचन में बंधन और मुक्ति के उपाय बतलाते हुए जो आख्यान प्रस्तुत किए हैं, वे कर्म-सिद्धांत की मूल-पोथी का सरलीकरण करते हैं और पाठक के चित्त में स्थान पाते हैं।

वर्तमान दौर में भारत वर्ष में अनेक युवा मुनिगण बहुत प्रभावनाकारी लहजा अपनाकर प्रवचन कर रहे हैं, उन्हें सुनने में मन भी लग रहा है, किन्तु पू. मुनि क्षमासागर जी महाराज ने तो डेढ़ दशक पूर्व अपने सचोट-उच्चारणों और तर्कसंगत भाषा-विज्ञान से जो श्रेष्ठ माहौल बनाया था, वह आज भी कानों में गूँजता रहता है। उनके तत्कालीन केसिट, सी.डी. अभी भी सहस्रों परिवारों में सुने जा रहे हैं। पूज्य मुनि श्री क्षमासागर जी आज रुग्ण शरीर के बावजूद, सक्रिय हैं, साधनालीन हैं और कर्मों का अनुवाद मुक्ति में कर रहे हैं। उनकी दृढ़चर्या देखकर ही समझ लेना चाहिये- 'कर्म कैसे करें?'

प्रस्तुत पुस्तक एक बार पढ़ने लायक नहीं, जीवन भर पढ़ने योग्य है, इसकी प्रतियाँ हर घर में सहज उपलब्ध रहें ताकि गृह-सदस्य सुविधा से दोहराते रहें। ग्रंथ का प्राक्कथन श्री एस.एल. जैन, (मैत्री समूह) ने लिखा है।

४०५, सरलकुटी, गढ़ाफाटक,
जबलपुर (म.प्र.)

किस्मत में जो लिखा है, वह आयेगा आपसे।
फैलाइये न हाथ, न दामन पसारिये॥
आतिश

पुरानी रौशनी में औ नई में फ़र्क़ इतना है।
उसे किश्ती नहीं मिलती, इसे साहिल नहीं मिलता॥
'अकबर' इलाहाबादी

अहलेहिम्मत[1] मञ्जिलेमक़सूद[2] तक आ ही गये।
बन्दयेतक़दीर[3] क़िस्मत का गिला करते रहे॥
चकबस्त

१. साहसी लोग, २. लक्ष्य, ३. भाग्यवादी लोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्खलन

– सरोजकुमार

तुमने छोड़ जरूर दिया था संसार / पर धीरे धीरे तुम्हें लगने लगा था / कि संसार में रहकर / संसार छोड़ना / तुम्हारे लिए दुष्कर है। / तुम उसे इस शक्ल में छोड़ते / वह उस शक्ल में जुड़ जाता / पकड़ने-पकड़ने में ही पंछी उड़ जाता।

तुम्हारा सपना / तुम्हारे कद से बहुत बड़ा था / बड़े सपने देखने में बुराई नहीं / बुराई बड़े सपनों की इबारत छोटी कर देने में है।

तुम उड़ रहे थे हवा में / ऊँचे और ऊँचे, इस भ्रम में / कि सपनों के महल के दरवाजे / बस आसपास ही कहीं हैं / होते होते हो यह गया / कि तुम जो थे, वो रहे नहीं / जो होना चाहते थे, हो नहीं पाए।

तुम्हारी भंगिमाओं से सजी हुई दीवारें / इर्द गिर्द घूमती कारें / अनथक जयकारें / साष्टांग मनुहारें / तामझाम दिव्य दिव्य / साजबाज भव्य भव्य / तुम्हारी प्रव्रज्या / तुम्हारे निजी आलोक में प्रज्वलित होती रही।

बावजूद इस सबके / मुझे तुम पर, गुस्सा क्यों आना चाहिए? / वह तुम्हारा निजी निर्णय था / और यह तुम्हारा निजी स्खलन है।

हाड़मांस के साधारण आदमी के साथ / ऐसा होना आश्चर्य की बात नहीं / पर तुम पर / आश्चर्य नहीं होने के लिए जरूरी है / कि मैं तुम्हें साधारण आदमी मानूँ / बड़ा या खास या विशेष या असामान्य नहीं / तुम जरूर स्वयं को ऐसा मानते रहे / इसीलिए संकट में हो।

सब चुनते हैं अपने-अपने रास्ते / तुमने भी चुना एक रास्ता / सही गलत जो भी हो / निर्णय तुम्हारा था। / अब तुम अभिशप्त हो / उसी रास्ते पर चलते दिखने के लिए। / त्याग ओर संन्यास की जिस गाड़ी में / तुम लपक-लपक चढ़े थे / उसमें रिवर्स गीयर की सुविधा / कभी नहीं रही।

तुम अपने संकल्पों को साध सको / ऐसी मनोकामनाओं के साथ / मुझे तुम पर दया आ रही है / क्रोध नहीं / न तिरस्कार। / तुम मेरी ओर से निश्चिन्त रहो / सबके सामने मैं तुम्हें / वैसे ही प्रणाम करूँगा / जैसे मैं मंदिर की मूर्तियों को करता हूँ। / अभी मैंने इस बात पर / जरूर विचार नहीं किया है / कि ऐसा करने से / मेरे परिणाम / कहीं दूषित तो नहीं होंगे।

३७, पत्रकार कॉलोनी, इन्दौर-१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

UPHIN/2006/16750

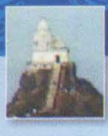

।। श्री सम्मेदशिखराय नमः।।

पावन वर्षायोग 2009

तीर्थराज सम्मेद शिखर की पावन धरा पर पर्वराज पर्यूषण के पुनीत प्रसंग में

श्रावक संस्कार शिविर एवं श्री १००८ जिनसहस्रनाम विधान

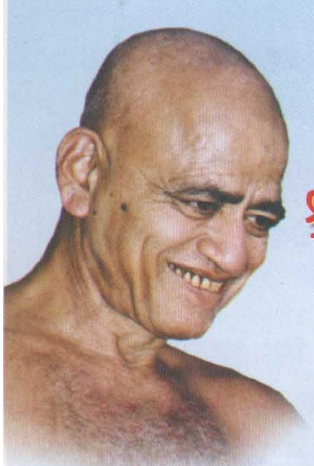

परमपूज्य 108 श्री विद्यासागर जी महाराज

मुनिश्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज

दिनांक : 24 अगस्त से 3 सितम्बर 2009 तक

स्थान : गुणायतन, मधुवन (शिखरजी), जिला-गिरिडीह

संघस्थ त्यागी वृंद

ब्र. शांतिलाल जी (बाबाजी) • ब्र. अनूप भैया

मुनिश्री पुराणसागरजी महाराज

मुनिश्री अरहसागरजी महाराज

मुनिश्री विराटसागरजी महाराज

शिविर निर्देशक एवं विधानाचार्य

बा.ब्र. अन्नू भैया जी • बा.ब्र. रोहित भैया जी

मान्यवर,

शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी की पावन धरा पर संत शिरोमणि आचार्य गुरुवर श्री 108 विद्यासागरजी महाराज के परम प्रभावक शिष्य मुनि श्री 108 प्रमाणसागरजी महाराज, मुनिश्री पुराणसागरजी महाराज, मुनिश्री अरहसागरजी महाराज एवं मुनिश्री विराटसागरजी महाराज के ससंघ सान्निध्य में पर्वराज पर्यूषण के पावन अवसर पर श्रावक संस्कार शिविर एवं श्री 1008 जिन सहस्रनाम विधान का आयोजन होने जा रहा है। आर्यिका 105 पूर्णमती माताजी द्वारा विरचित भक्ति और अध्यात्म रस से ओतप्रोत यह बड़ा ही अद्भुत विधान है।

आपसे आग्रह निवेदन है कि इस पावन अवसर पर सपरिवार पधारें और संस्कार के साथ ज्ञान और भक्ति की अविरल धारा में अवगाहित होकर धर्म लाभ लेवें।

दिनांक 24 अगस्त 2009 को प्रातः - ध्वजारोहण, मण्डप शुद्धि, पात्र चयन, इन्द्र प्रतिष्ठा एवं नित्य-पूजन विधान

विशेष

- इच्छुक महानुभाव शीघ्र ही अपना आरक्षण कराने के लिए दूरभाष द्वारा सम्पर्क कर सकते हैं।
- शिविर में 15 वर्ष से अधिक के पुरुष, महिलाएं एवं भाई बहन भाग ले सकते हैं।
- आवेदन की अन्तिम तिथि 10 अगस्त 2009 रखी गई है। इसके बाद आवेदन मान्य नहीं होगा।
- जो लोग केवल विधान में शामिल होना चाहते हैं उनके लिए शिविर के नियम बंधनकारी नहीं होंगे।

निवेदक

समस्त ट्रस्टी एवं पदाधिकारी

गुणायतन — श्रीसेवायतन — पावन वर्षायोग समिति 2009

सम्पर्क सूत्र : वर्षायोग कार्यालय, **गुणायतन**, मधुवन (शिखर जी) फोन : 06558-232438, 9835321008, 9431224555, 9431115141

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक : रतनलाल बैनाड़ा द्वारा एकलव्य ऑफसेट सहकारी मुद्रणालय संस्था मर्यादित, 210, जोन-1, एम.पी. नगर, भोपाल (म.प्र.) से मुद्रित एवं 1/205 प्रोफेसर कॉलोनी, आगरा-282002 (उ.प्र.) से प्रकाशित। **संपादक :** रतनचन्द्र जैन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org